भेंट प्रात्

प्रिय श्री [illegible] जी

को सप्रेम भेंट।

महन्त अवेद्यनाथ

मा. गोरखनाथ मन्दिर

गोरखपुर

नाथ-योग

[परिचयात्मक अध्ययन]

मूल लेखक

श्री अक्षयकुमार बनर्जी

अनुवादक

डा० रामचन्द्र तिवारी

* प्रकाशक :—

दिग्विजयनाथ-ट्रस्ट

गोरखनाथ-मन्दिर

गोरखपुर ।

* द्वितीय संस्करण

१९६८

* मूल्य

रु० ३.००

मुद्रक—

प्रभा—मुद्रणालय

सी० १४/१६० बी २

सत्याग्रह मार्ग

वाराणसी ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

उन्नीस लघु परिच्छेदों की तथा एक विस्तृत परिशिष्ट से अलंकृत इस पुस्तक का प्रकाशन एक सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति, धर्म तथा साधना के उद्धार तथा विकास में शैव नाथ योगियों ने पर्याप्त योग दिया है। हम अपनी योजनानुसार नाथ सिद्धों तथा योगियों के दर्शन, साधनाप्रणाली और चिंतना का परिचय जनसाधारण तथा सुधी जनों को कराने के लिए विभिन्न भाषाओं में लिखित तत्संबंधी साहित्य का प्रकाशन कर रहे हैं। देश की मान्य तथा सुप्रतिष्ठित भाषा के माध्यम से इस प्रकार के ग्रन्थरत्नो का प्रकाशन साधना-मंडल तथा जनसाधारण के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। इस पुस्तक के मूल लेखक वयोवृद्ध प० अक्षयकुमार बंद्योपाध्याय, नाथ-दर्शन एवं साधना के अनुभवी तथा परिपक्व अधिकारी विद्वान् है। उनका यह ग्रन्थ 'नाथ-योग' नाम से हमने कुछ दिनों पहले अंग्रेजी में प्रकाशित किया था। उसी का हिंदी में उल्था डा० रामचंद्र तिवारी ने किया है। इस पुस्तक को 'सर्वजन हिताय' प्रस्तुत करने का श्रेय तिवारी जी को ही है। उन्होंने सरल भाषा में, गंभीरता का कहीं भी त्याग न करते हुए, यह कार्य कर पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि की है। मूल ग्रन्थ की सामग्री यथावत् रूप में इसमें रख दी गयी है। इस कार्य के लिए डा० तिवारी को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और आशा करते हैं कि विद्वज्जन, साधक तथा भारतीय संस्कृति एवं साधना के प्रेमी इसका भी मूलग्रन्थ की तरह ही स्वागत करेंगे।

—प्रकाशक

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'नाथ-योग' का द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथों में देते हुए हमें हार्दिक उल्लास हो रहा है। इस पुस्तक के प्रचार–प्रसार का धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व है। वर्तमान समय में, जब कि वैज्ञानिक बुद्धि के अभिमान में मानव दानव बनता जा रहा है, इस ग्रन्थ के प्रचार से यदि मानव-जाति के हृदय को कुछ भी शान्ति और स्थिरता प्राप्त हो सकी तो हम अपने प्रयत्न को सफल समझेंगे।

प्रकाशक—

अनुक्रम

नाथ-योग

नाथ-योग—एक परिचय

१—योग-साधना उतनी ही प्राचीन है जितनी भारतीय संस्कृति :

योग-पद्धति हिन्दुओं की आध्यात्मिक चेतना की सुन्दरतम एवं गौरवमयी अभिव्यक्तियों में से एक है। यह शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन की एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा मन और शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है और अन्ततः सत्य की अनुभूति तथा प्रत्येक प्रकार के बन्धनों से पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। यह साधना-पद्धति उतनी ही प्राचीन प्रतीत होती है जितनी भारतीय संस्कृति। इसका दृढ़ विकास देश की विभिन्न दिशाओं में उन महान सन्तों और योगियों के अनुभवों और प्रयत्नों से हुआ था जिन्हें विभिन्न युगों में उत्पन्न करने का श्रेय भारतवर्ष को है। योगियों का उल्लेख प्राचीन वैदिक साहित्य में है। योग-पद्धति के प्रचलन के स्पष्ट प्रमाण मोहनजोदड़ो और हरप्पा की खुदाइयों से भी प्रकाश में आये हैं। यह साधना-पद्धति मानव के शरीर और मन के रहस्यों, महत्त्वपूर्ण अवयवों की सूक्ष्म चेष्टाओं, मस्तिष्क, और रीढ़ की नाड़ियों तथा मन की चेतन, अवचेतन तथा अर्द्धचेतन स्थितियों के पूर्ण ज्ञान पर आधारित है। समय के साथ यह साधना-पद्धति विस्तृत दार्शनिक एवं धार्मिक पद्धति के रूप में विकसित हुई। महर्षि पतंजलि के योग-सूत्रों में इस पद्धति के दार्शनिक एवं व्यावहारिक रूपों का क्रमिक विवरण प्राप्त होता है। प्रकट है कि पतंजलि ने अपने से प्राचीन शिक्षकों की महत्त्वपूर्ण एवं अकाट्य खोजों और निष्कर्षों को अति संक्षेप में उपस्थित किया है।

२—योग का प्रभाव और शक्ति

जब तक मनुष्य सामान्य जीवन व्यतीत करता है अर्थात् शारीरिक वृत्तियों, इन्द्रियों, मन तथा सांसारिक शक्तियों के अधीन रहता है, वह अपने में अन्तर्निहित अनन्त शक्ति के प्रति जागरूक नहीं होता। योगसाधना के फलस्वरूप ये शक्तियाँ जागृत एवं व्यक्त होती हैं और तब मनुष्य अपने आन्तरिक स्वरूप के गौरव का अनुभव करता है। अपने शरीर, इन्द्रियों तथा मानसिक प्रवृत्तियों पर संयम स्थापित करने के बाद वह अपने भीतर ऐसे ज्ञान और शक्ति, ऐसी इच्छा-मुक्ति, शान्ति, सौन्दर्य और आनन्द का अनुभव करता है जैसा सामान्य जीवनक्रम में असम्भव प्रतीत होता है।

प्रो० राधाकृष्णन् ने, जो आधुनिक दुनिया के प्रमुख विचारकों में से एक हैं, अपनी 'भारतीय दर्शन' पुस्तक में योग-साधना से उपलब्ध होने वाले तत्त्वों की सामान्य रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है—

"वे (योगी) हमें बताते हैं कि हम बाह्य इन्द्रियों की सहायता के बिना भी देख और समझ सकते हैं। साथ ही हम मस्तिष्क तथा भौतिक इन्द्रियों की जिस प्रेरणा से कार्यरत होते हैं उससे भी मुक्त हो सकते हैं। उनकी धारणा है कि हमारे चारों ओर हमारी सम्भावना से भी अधिक बड़ी एक और विस्तृत दुनिया है, इस विस्तृत जगत की उपलब्धि और रहस्यात्मक शक्ति का उद्घाटन निश्चित नियमों के आधार पर होता है। योगसाधना के नियमों—एकाग्रचित होने की शक्ति में वृद्धि, चित्तवृत्ति का निरोध, शक्ति के गहनतम स्रोतों पर ध्यान केन्द्रित करना आदि-का अनुसरण करने से कोई भी साधक उसी प्रकार अपनी आत्मा का निग्रह कर सकता है जिस प्रकार कोई कसरती व्यक्ति अपने शरीर का। मनस्तन्तुओं के परिवर्तन के आधार पर योग-साधना हमें सामान्य मानवीय अनुभूतियों के

धरे चेतना के उच्चतर धरातल पर पहुँचने में सहायता पहुँचाता है। योग-साधना के अन्तर्गत हम हिन्दू-चिन्तन की उन प्रमुख मान्यताओं का विवेचन एवं प्रत्यक्षीकरण करते हैं जिनके कारण परम्परागत हिन्दू जीवन-दृष्टि आधुनिक विचारकों को अद्भुत और काल्पनिक प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ शारीरिक शक्ति के ऊपर मनस्तन्तुओं की प्रधानता, शान्ति, एकान्त ध्यान और आनन्द की प्राप्ति और बाह्य परिस्थितियों के प्रति उदासीनता।"

उपर्युक्त योगसाधना के बल पर व्यक्ति न केवल अपनी मानसिक एवं शारीरिक चेष्टाओं पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है और इन्द्रियेतर ज्ञान की उपलब्धि कर सकता है वरन् वह प्रकृति के क्रियाकलापों पर भी आध्यात्मिक अंकुश लगा सकता है, यहाँ तक कि वह प्रकृति के विकासक्रम को भी नियन्त्रित कर सकता है। इन गुह्य शक्तियों की उपलब्धि ही योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। ये शक्तियाँ व्यक्त होने पर व्यक्ति की आन्तरिक महत्ता प्रमाणित करती हैं। वे यह प्रकट करती हैं कि मनुष्य अपने को क्या बना सकता है। उच्चतम साधनाभूमि में पहुँचा हुआ योगी कदाचित् ही इनका प्रदर्शन करता हो। जो किसी प्रकार की गुह्य शक्तियों की उपलब्धि में लग जाता है वह मार्ग में ही असहाय पड़ा रहता है और लक्ष्यसिद्धि नहीं कर पाता। योगी का अन्तिम लक्ष्य प्रकृति के क्षेत्र का अतिक्रमण करके सीमातीत, दुःखातीत, बन्धनातीत, अहंकारशून्य, आत्मप्रकाशित आत्मतत्त्व की अनुभूति करना है।

३—सभी सम्प्रदायों में योग की स्वीकृति

योगसाधना किसी विशेष धार्मिक सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं है। नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन की विशिष्ट योग्यता के कारण योगसाधना सभी भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक पद्धतियों

में स्वीकृत हुई है। भक्तिसाधना के अनेक समर्थकों और प्रवर्त्तकों ने भी यौगिक साधना की किसी न किसी विधि को अपनी साम्प्रदायिक पूजा-पद्धति का अंग बनाया है। आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम आदर्श की अनुभूति, साध्य परमतत्त्व में अपने ध्यान एवं शक्ति के केन्द्रीकरण तथा मन और शरीर की शुद्धि के लिए शैव, शाक्त, वैष्णव, सूर्योपासक, गणपतिपूजक, वैदिक, वेदान्ती, सांख्य दर्शन के अनुयायी तथा बौद्ध-जैन धर्मावलम्बियों सभी ने यौगिक, साधना के किसी न किसी रूप को स्वीकार किया है। जो लोग आध्यात्मिक विकास या जीवनमुक्ति में अधिक रुचि नहीं रखते वे भी गुह्य ज्ञान और अद्‌भुत शक्ति की प्राप्ति या विशेष कामना की पूर्ति के लिये किसी न किसी विशिष्ट यौगिक साधना-प्रणाली का आश्रय ग्रहण करते हैं। हिन्दुओं की नैत्यिक अनिवार्य सन्ध्या-पूजा में भी योग के कुछ तत्त्व सन्निहित हैं। इस प्रकार भारतीयों के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन में योग-सिद्धान्त व्यापक रूप से स्वीकृत हुए हैं।

४—गुरु गोरखनाथ का योगी सम्प्रदाय

योगसाधना के सिद्धान्तों के आधार पर योगी गुरु गोरखनाथ (शुद्ध रूप में गोरक्षनाथ) ने एक सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। वे मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य तथा आदिनाथ के प्रशिष्य (ग्रैण्ड डिसाइपुल) के रूप में प्रसिद्ध हैं। अभी तक इस महान सन्त और सुधारक का जन्मस्थान और समय आधुनिक विद्वानों द्वारा निर्विवाद रूप से निर्धारित नहीं किया जा सका है। उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में आदिनाथ स्वयं शिव के रूप में माने जाते हैं और स्वयं गोरखनाथ भी सामान्य मानव सन्त एवं शिक्षक से अधिक माने जाते हैं। वे शिव से अभिन्न समझे जाते हैं। वे जीवनमरण

के बन्धनों से परे विश्वपति हैं जो पृथ्वी पर विभिन्न युगों में स्वेच्छा से बन्धन, दुख, दुर्बलता तथा अज्ञानमें पड़े हुए सांसारिक जीवों पर द्रवीभूत होकर मानव रूप में अवतरित होते हैं। सम्पूर्ण भारत तथा इसकी भौगोलिक सीमाओं से बाहर भी गोरखनाथ जी के जन्म, आत्मसंयम, धार्मिक शिक्षा, अद्भुत शक्ति एवं करुणापूर्ण कार्यों के सम्बन्ध में अगणित जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। बंगाल, उत्तरप्रदेश, (विशेषतः गोरखपुर) पञ्जाब, महाराष्ट्र, उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, काठियावाड़ में से प्रत्येक, युगों से चली आने वाली स्थानीय जनश्रुतियों के आधार पर, अपने को गोरखनाथ जी को जन्म एवं अति मानवीय क्रिया की भूमि घोषित करते हैं। इन प्रान्तों में से प्रत्येक का प्राचीन भाषा-साहित्य गोरखनाथ तथा उनके शिष्यों और अनुयायियों के उल्लेखों से भरा है। अभी तक इतिहासकारों ने ऐसे किसी भी स्थान या ऐसी किसी भी शताब्दी के पक्ष में अपना निश्चित मत नहीं दिया है जिसे गोरखनाथ जी का उद्भव-स्थान या काल माना जा सके। वे अभी तक इस साम्प्रदायिक विश्वास के खण्डन में किसी भी निश्चित मत तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं कि अमर योगी गोरखनाथ अपनी आध्यात्मिक यौगिकसाधना के बल से विभिन्न स्थानों और समयों में लोगों पर अनुग्रह करने के लिये प्रकट हुए थे।

प्रोफेसर ब्रिग्स ने अपने विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध "गोरखनाथ और कनफटा योगी" (सन् १९३८ में प्रकाशित) में लिखा है—"मध्य युग से लेकर उत्तरी-पश्चिमी भारत में गोरखनाथ एक महान योगी और आश्चर्यजनक कृत्यों के कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं और असंख्य भावों की जन-श्रुतियों और गीतों में उनका और उनके अनुयायियों का गान हुआ है। नैपाल से राजपूताना, पञ्जाब से बंगाल तथा सिन्ध से दक्षिण तक जनश्रुतियाँ और लोकवार्तायें

गोरखनाथ क अद्‌भुत कृत्यों की ओर संकेत करती हैं। वे प्रसिद्ध सन्त और चमत्कार करने वाले व्यक्ति हैं, वे हठयोग की साधना करने वाले शैव योगियोंको, जिन्हें सामान्यतः कनफटा योगीकहते हैं, शिक्षक और प्रवर्त्तक हैं, वे उत्तरी भारत के रामानन्दी वैष्णव सुधारकों के ब्रह्मवादी विरोधी हैं, वे गोरखा राज्य के, जिसका शासन इस समय नैपाल में है, आश्रयदाता और संरक्षक सन्त हैं और अन्ततः वे मत्स्येन्द्रनाथ के प्रतिस्पर्धी और विजेता हैं जो नैपाल के प्राचीन बौद्ध रक्षक माने जाते हैं। एकाध जगह तो यह अद्‌भुत उल्लेख मिलता है कि वे मुहम्मद के शिक्षक और पोषक थे और कहीं कहीं यह संकेत भी मिलता है कि उन्होंने मुसलमानी धर्म 'गुगा' की भी शिक्षा दी थी। बहुत प्राचीन काल से गोरखनाथ जी सामान्य धार्मिक मानस में शिव के प्रतिनिधि या शिव के रूप समझ कर पूजे जाते रहे हैं। उनका नाम भी शिव है, वे सृष्टिकर्ता हैं।"

अपनी श्रमसाध्य खोजों के आधार पर उपलब्ध अनेक साहित्यिक एवं आनुश्रुतिक प्रमाणों पर विचार करने के उपरान्त प्रोफेसर ब्रिग्स ने गोरखनाथ जी के जन्मस्थान या जन्मसमय के विषय में किसी भी निर्णय तक पहुँचने में अपनी असमर्थता स्वीकार की है। उन्होंने किसी प्रकार यह मत स्थापित करने का साहस किया है कि—"जब तक अन्य सामग्री उपलब्ध नहीं होती, इसी निर्णय पर संतोष करना चाहिये कि गोरखनाथ सन् १२०० ई० के पहले सम्भवतः ११ वीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान थे और वे मूलतः पूर्वी बंगाल से आये थे।" यह निर्णय वस्तुतः एक संकेत मात्र है। दूसरे विद्वान, डा० मोहन सिह ने अपनी पुस्तक "गोरखनाथ और मध्यकालीन हिन्दू रहस्यवाद" में संकेत किया है कि गोरखनाथ सम्भवतः नवीं शती में विद्यमान थे और पञ्जाब के रहने वाले थे। नैपाल के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास, शैव मत और नाथयोगी सम्प्रदाय के विकास

के इतिहास तथा अन्य स्थानों की लिखित परम्पराओं के साक्ष्य पर बहुत से विद्वानों (डा० शाहदुल्ला, सिलवान लेवी तथा अन्य) ने निर्णय किया है कि नाथ योगी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संस्थापक यदि अधिक पहले नहीं तो कम से कम सातवीं शती में अवश्य विद्यमान थे। कुछ अन्य विद्वानों ने दूसरे प्रमाणों पर निर्णय दिया है कि वे पाँचवीं या छठीं शती में उत्पन्न हुए थे।

५—गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय का प्रभाव

गोरखनाथ जी के अवतरण का कोई भी समय या स्थान क्यों न रहा हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वे भारतवर्ष में उत्पन्न अधिकतम प्रभावशाली और शक्तिमान धार्मिक शिक्षकों में एक थे। भगवान बुद्ध के पश्चात् (शंकराचार्य के अतिरिक्त) ऐसा कोई भी अन्य अवतार या धर्मदूत या धार्मिक सुधारक नहीं हुआ जिसने भारतवर्ष के सभी प्रान्तों एवं समीपवर्ती देशों के सभी वर्गों के व्यक्तियों की विचारधारा को, उनकी कल्पना शक्ति को इस सीमा तक उत्तेजित किया हो और उनकी साधना, चिन्तन और भावना को उस हद तक प्रभावित किया हो जिस सीमा तक गोरखनाथ जी ने किया था। उन्होंने और उनके शिष्यों ने योगियों का एक ऐसा सम्प्रदाय संगठित किया जिसकी शाखा-प्रशाखायें इस विशाल देश के कोने-कोने में फैलीं, जिसके सन्त-साधकों ने तीर्थाटन के रूप में न केवल इस भू-भाग की लम्बाई-चौड़ाई नाप डाली, वरन इसकी पर्वतीय सीमाओं को लांघकर विदेशों में भी गुरु के सन्देश को न केवल शब्दों में वरन् आध्यात्मिक प्रभावों और चामत्कारिक कार्यों के रूप में पहुँचाया। ईसा की १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में भारतवर्ष के विभिन्न भागों में वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय के सुधारकों और सन्तों—श्री चैतन्य, गुरु नानक, गोस्वामी तुलसीदास, भक्त

रामानन्द, तुकाराम, रामदास, शंकरदेव तथा अन्य—के चुम्बकीय प्रभाव, नाम–जप, नाम-संकीर्तन तथा धार्मिक भावनाओं के संस्करण एवं संयमन के रूप में जन-सामान्य के लिये उनके द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक अनुशासन की सहज क्रियाओं ने समान रूप से जनता और उच्च वर्ग के हृदयों को प्रभावित किया। फलस्वरूप शैव सम्प्रदाय तथा नाथ-योगी सम्प्रदाय की यौगिक क्रियायें पृष्ठभूमि में पड़ गयीं। पुरातनवादी ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के कारण भी नाथ पंथ का प्रभाव हिन्दू जनता पर कम हो गया।

तुलनात्मक दृष्टि से प्रभाव कम हो जाने पर भी नाथ-योगी सम्प्रदाय भारतवर्ष के सर्वाधिक प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों में एक है। जैसा कि प्रोफेसर ब्रिग्स ने लिखा है—"कनफटा योगी भारत–वर्ष में सर्वत्र पाये जाते हैं। वे किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय से अधिक विस्तृत हैं। वे दक्षिण के उत्तरी भाग, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पञ्जाब, गंगा के मैदानी प्रान्तों तथा नैपाल में तपस्वियों और यतियों के रूप में कभी छिट-फुट, कभी दलों में संगठित भी मिलते हैं। भारतवर्ष के पहाड़ी और मैदानी भागों में कुछ ही महत्त्व-पूर्ण पवित्र स्थान ऐसे हैं जहाँ नाथ–योगियों ने किसी प्रकार के मन्दिर मूर्ति, आश्रम या मठ की स्थापना नहीं की है। गोरखनाथ के सम्बन्ध में सभी प्रान्तीय एवं जातीय बोलियों में प्रचलित अगणित गीतों, गाथाओं, दोहों, नाटकों, वार्ताओं, साहित्यिक कृतियों तथा योगसाधना सम्बन्धी ग्रंथों से प्रकट है कि विगत कई शताब्दियों से इस विशाल उपमहाद्वीप की जनता के धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर गोरखनाथ तथा उनके अनुयायिओं का कितना व्यापक प्रभाव रहा है। हिन्दू जाति का एक बहुत बड़ा भाग आज भी गोरखनाथ तथा उनके योगी सम्प्रदाय के प्रति असीम श्रद्धा रखता है।

६—योगी-सम्प्रदाय और उसका आदर्श

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योगी-सम्प्रदाय सामान्यतः 'नाथ-योगी', 'सिद्ध–योगी', 'दरसनी योगी' या 'कनफटा योगी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये सभी नाम साभिप्राय हैं। योगी का लक्ष्य नाथ अर्थात् स्वामी होना है। प्रकृति के ऊपर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने के लिये योगी को अनिवार्यतः नैतिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन की क्रमिक विधि का पालन करना पड़ता है। प्रकृति के ऊपर स्थापित स्वामित्व चेतना एवं पदार्थ दोनों दृष्टियों से होना चाहिये; अर्थात् उसे अपने विचारों, भावनाओं, इच्छाओं और क्रियाओं, बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर तथा स्थान और समय, गरिमा और गुरुत्व, प्राकृतिक नियमों एवं भौतिक तत्वों आदि सभी पर नियन्त्रण करना चाहिये। उसे निश्चित रूप से सिद्धि या आत्मोपलब्धि करनी चाहिये और सभी आन्तरिक सुन्दरताओं का व्यावहारिक रूप से अनुभव करना चाहिये। उसे निश्चय ही सभी प्रकार के बन्धनों, दुःखों और सीमाओं से ऊपर उठना चाहिये। उसे शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। उसे मृत्युञ्जयी होना चाहिये। उसे वास्तविक दृष्टि (दर्शन) अर्थात् परमतत्व की मूलभूत विशिष्टताओं को समझने के लिये अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि होनी चाहिये। उसे अज्ञान के परदे को फाड़कर निरपेक्ष सत्य की अनुभूति करनी चाहिये और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहिये। इस सम्प्रदाय के योगियों को विभिन्न संज्ञायें सम्भवतः इसलिये दी गई हैं कि जिस उच्चतम आध्यात्मिक आदर्श की अनुभूति के लिए उन्होंने योग-सम्प्रदाय में प्रवेश किया है उसकी स्मृति अनंत रूप से बनी रहे। वे किसी भी निम्न कोटि की सिद्धि,गुह्यशक्ति या दृष्टि से ही सन्तुष्ट न हों, न उसे अपनी साधना का लक्ष्य बनावें। वे चमत्कारों की ओर प्रवृत्त न हों क्योंकि सच्चे

योगी के लिये ये सर्वथा तुच्छ हैं। अपनी साधना के बीच में इस प्रकार की जो शक्ति ये प्राप्त करते हैं वह उच्च से उच्चतर स्थितियों की उपलब्धि में आध्यात्मिक पूर्णता की अनुभूति में, परमज्ञान और परममुक्ति, परमानन्द और परमशान्ति तथा मुक्ति या कैवल्य की अनुभूति में प्रयुक्त होनी चाहिये। यह भौतिक शरीर भी आध्यात्मिक स्पर्श के द्वारा समय और स्थान की सीमाओं से परे दिव्य बना दिया जाता है जिसे आध्यात्मिक शब्दावली में काया-सिद्धि कहते हैं।

जो योगी आत्मानुभूति की उच्चतम स्थिति तक पहुँच जाता है, सामान्यतः अवधूत कहलाता है। अवधूत से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो प्रकृति के सभी विकारों का अतिक्रमण कर जाता है; जो प्रकृति की शक्तियों और नियमों से परे है; जिसका व्यक्तित्व मलिनताओं, सीमाओं, परिवर्तनों तथा इस भौतिक जगत के दुःखों और बन्धनों के स्पर्श से परे हो जाता है वह जाति, धर्म, लिङ्ग, सम्प्रदाय और राष्ट्र के भेदों से ऊपर उठ जाता है। वह किसी भी प्रकार के भय, चाह या बन्धन के बिना पूर्ण आनन्द और स्वच्छन्दता की स्थिति में विचरण करता है। उसकी आत्मा परमात्मा या भगवान शिव, विश्व के स्रष्टा, शासक और हर्त्ता, के साथ एकाकार हो जाती है। इस सम्प्रदाय की प्रामाणिक पुस्तकों में ऐसे अनेक योगियों का उल्लेख मिलता है जिन्हें आध्यात्मिक साधना की यह भूमि प्राप्त हुई थी, जिन्होंने इस जगत के प्राणियों के सम्मुख मानव, अस्तित्व की दैवी सम्भावनाओं का प्रदर्शन किया था। इस प्रकार का अवधूत ही सच्चे अर्थों में नाथ, सिद्ध या दर्शनी है जब कि अन्य योगी इस स्थिति की कामना करने वाले मात्र हैं।

७—योगी-सम्प्रदाय के विशेष चिह्न और उनका तात्पर्य

इस सम्प्रदाय के योगी कुछ निश्चित प्रतीकों का प्रयोग करते हैं जो केवल व्यवहारगत साम्प्रदायिक चिह्न न होकर आध्यात्मिक

अर्थ भी रखते हैं। नाथ-योगी का एक प्रकट चिह्न उसके फटे हुए कान तथा उसमें पहने जाने वाले कुण्डल हैं। इस सम्प्रदाय का प्रत्येक व्यक्ति संस्कार की तीन स्थितियों से गुजरता है। तीसरी या अन्तिम स्थिति में गुरु उसके दोनों कानों के मध्यवर्ती कोमल भागों को फाड़ देता है और जब घाव भर जाता है तो उनमें दो बड़े छल्ले पहना दिये जाते हैं। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय के योगी को सामान्यत: कनफटा योगी कहते हैं। संस्कार का यह अन्तिम रूप योगी शिष्य की सच्चाई और निष्ठा की परीक्षा प्रतीत होता है जो इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि शिष्य अति पवित्र जीवन व्यतीत करने तथा रहस्यमय योगसाधन में पूरा समय और शक्ति देने को प्रस्तुत है। योगी के द्वारा पहना जाने वाला छल्ला 'मुद्रा' 'दरसन', 'कुण्डल', आदि नामों से प्रसिद्ध है। यह गुरु के प्रति शिष्य के पूर्ण आत्मसमर्पण का प्रतीक है। इस प्रकार का आत्मसमर्पण ही शिष्य के शरीर और मन को पूर्णत: शुद्ध कर देता है। उसे समस्त अहमन्यताओं और पूर्वग्रहों से मुक्त करके इतना स्वच्छ कर देता है कि वह ब्रह्म, शिव या परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सके। आध्यात्मिक ज्योति को प्रकाशित करने वाले तथा योगियों के जीवन के आदर्श स्वरूप गुरु के प्रति इस प्रकार के पूर्ण आत्मसमर्पण का तात्पर्य शिष्य के चिन्तन की स्वच्छन्दता में बाधा पहुँचाना नहीं होता वरन् इस स्वच्छन्दता की पूर्ति करना और उसे विकसित करना होता है। अवधूत (गुरु) की पूर्ण मुक्त आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करके अहंकारमयी प्रवृत्तियों और इच्छाओं के बन्धन से उसकी आत्मा को मुक्ति प्राप्त होती है।

गोरखनाथ के उन अनुयायिओं को जिन्होंने सभी सांसारिक सम्बन्धी को त्याग दिया है और योगी-सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गये हैं किन्तु जिन्होंने अन्तिम दीक्षा-संस्कार के रूप में कान नहीं फड़-

वाया है, सामान्यतः औघड़ कहते हैं। इनकी स्थिति बीच की है। एक ओर तो सामान्य शिष्य हैं जो अभी योगी सम्प्रदाय के बाहर हैं और दूसरी ओर दरसनी योगी हैं जिन्होंने सांसारिक जीवन को पूर्णतः त्याग दिया है और जब तक लक्ष्य–सिद्धि न हो जाय, योग के गुह्य साधना-मार्ग से विरत न होने का दृढ़ व्रत लिया है। यद्यपि सम्प्रदाय के अन्तर्गत औघड़ों का उतना आदर नहीं है जितना कनफटे योगियों का, फिर भी जब तक उनमें त्याग की भावना है, जबतक वे गुरु के निर्देशों पर दृढ़ हैं और आदर्श की अनुभूति में अपने जीवन को अर्पण किये रहते हैं, तब तक योग की गुह्य साधना में उन्हें किसी प्रकार की रोक नहीं है।

औघड़ तथा दर्शनी योगी ऊन का पवित्र 'जनेव' (उपवीत) पहनते हैं। इसी में एक छल्ला जिसे 'पवित्री' कहते हैं, लगा रहता है। छल्ले में एक नादी लगी रहती है जो 'नाद' कहलाती है और इसी के साथ रुद्राक्ष की मनिया भी रहती है। 'नाद' उस सतत् एवं रहस्यात्मक ध्वनि का प्रतीक है जिसे प्रणव (ॐ) की अनाहत ध्वनि कहते हैं, जो परमतत्त्व (ब्रह्म) का ध्वन्यात्मक प्रतीक है तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। रुद्राक्ष (शिव या रुद्र की आँख) तत्त्वदर्शन (ज्ञान) या ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति से मानव-चेतना के प्रकाशित होने का प्रतीक है। योग-पद्धति के अनुसार स्वभावतः हृदयस्थित अनाहत नाद पर ध्यान केंद्रित करने का अभ्यास और अनाहत नाद की बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में प्रत्येक श्वास के साथ 'प्रणव' की पुनरुक्ति ये दोनों ही ब्रह्म की साक्षात् तथा चेतना को प्रकाशमान करने के उपाय हैं। यह 'नाद-योग' है और प्रतीकों के द्वारा इसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। यज्ञोपवीत नाड़ी मण्डल का प्रतीक है जिसे नाद-योग के अभ्यास से प्रशान्त और नियमित करना होता है। इस प्रकार योगियों के द्वारा धारण किये

जाने वाले सभी बाह्य उपकरण, जिस सत्य की उन्हें अनुभूति करनी है, जिस आदर्श तक उन्हें पहुँचना है और जिस अनुशासन एवं विधि का उन्हें पालन करना है उसकी स्मृति को सतत सजीव करने के लिए हैं।

८—गोरख-पंथ के उपसम्प्रदाय

गोरखनाथ जी का योगी सम्प्रदाय कई उपपंथों में विभाजित है। इनमें से प्रत्येक या तो गोरखनाथ जी के निकटतम शिष्य या उनके प्रमुख अनुयायी द्वारा प्रवर्तित है। इन सभी उपपंथों की सामूहिक संख्या १२ मानी जाती है। इसीलिये इन्हें 'बारहो पन्थी' कहते हैं (अर्थात् वह सम्प्रदाय जिसमें १२ उपपंथ हैं)। जिस प्रकार शंकराचार्य के अनुयायी सन्यासियों की १० शाखायें हैं उसी प्रकार गोरखपंथी योगियों की १२ शाखायें हैं। ये सभी शाखायें साधना-प्रणाली एवं दार्शनिक मत दोनों में साम्य रखती हैं और सभी गोरखनाथ जी के प्रति श्रद्धालु हैं। उनमें कुछ छोटी-मोटी भिन्नतायें हैं। अनेक उपलब्ध तालिकाओं के आधार पर इन उपपंथों की वास्तविक संख्या १२ से अधिक हो जाती है। इससे इस बात की पूरी सम्भावना की जा सकती है कि मूल शाखायें आगे चलकर कुछ प्रधान गुरुओं के द्वारा पुनः विभाजित कर दी गयी हैं। सम्प्रदाय के प्रमुख उपपंथ निम्नलिखित हैं:—

१—सतनाथी, २—रामनाथी, ३—धर्मनाथी, ४—लक्ष्मननाथी ५—दरियानाथी, ६—गंगानाथी, ७—बैरागपंथी, ८—रावलपंथी या नागनाथी, ९—जालन्धर नाथी, १०—ओपन्थी, ११—कापलती या कपिल पंथी, १२—धज्जा नाथी या महाबीर पंथी। ये विभिन्न पंथी भारतवर्ष के विभिन्न भागों में अपना प्रमुख केन्द्र रखते हैं किन्तु ये

सभी देशव्यापी एक संगठन से सम्बद्ध हैं। विभिन्न पंथों के मुखिया या उनके प्रतिनिधि केन्द्रीय मठों के महन्तों के चुनाव या अभिषेक के समय तथा अन्य महत्वपूर्ण सांस्कृतिक पर्वो पर एकत्र होते हैं। यदि इन पंथों को ठीक ढंग से संगठित किया जाय तो ये इस ऐतिहासिक महान् सम्प्रदाय के प्राचीन गौरव का पुनरुत्थान कर सकते हैं और वर्तमान काल में भी धार्मिक संस्कृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं।

—:०:—

९—वृहत् साहित्य

नाथ-पंथी योगियों का साहित्य विशाल है—संस्कृत में भी और विभिन्न प्रान्तीय बोलियों और भाषाओं में भी। योग-साधना तथा सिद्धान्त को लेकर लिखे गये प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त, जिन्हें योगी लोग पूर्णतः प्रामाणिक मानते हैं, स्वय गोरखनाथ जी भी ऐसी अनेक रचनाओं के प्रणेता बताये जाते हैं जो योग-साधना के पथ पर चलने वालों के लिए अमूल्य हैं। सम्प्रदाय के परवर्ती शिक्षकों ने भी प्रचुर साहित्य-सृजन किया है। 'गोरक्ष-शतक', गोरक्ष-संहिता', 'सिद्धान्त-पद्धति', 'योग-सिद्धान्त-पद्धति', सिद्धसिद्धान्त-पद्धति', 'हठयोग' 'ज्ञानामृत' आदि अनेक संस्कृत ग्रंथ गोरखनाथ जी कृत बताये जाते हैं। 'हठ-योग-प्रदीपिका', 'शिव-संहिता', और 'घेरण्ड-संहिता' योगसाधन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं और इनके रचयिता इसी सम्प्रदाय के योगी बताये जाते हैं। 'गोरक्षगीता', 'गोरक्ष-कौमुसुदी' 'गोरक्ष-सहस्रनाम', 'योग-संग्रह', 'योग-मञ्जरी',

'योग-मार्तण्ड' तथा इसी प्रकार की अन्य अनेक कृतियाँ गोरखनाथ जी के शिक्षा-सिद्धान्तों पर आधृत हैं। इनके साथ ही हिन्दी, बंगाली, मराठी तथा अन्य भाषाओं में इस सम्प्रदाय से सम्बद्ध अनेक पुस्तकें हैं।

१०—दार्शनिक सिद्धान्त

यहाँ हम इस सम्प्रदाय की कुछ दार्शनिक मान्यताओं का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे। जैसा कि प्रामाणिक ग्रन्थों से प्रकट है, योगी लोग 'पिण्ड' को 'ब्रह्माण्ड' का ही वैयक्तिक मूर्त रूप मानते हैं। वे ब्रह्माण्ड और 'पिण्ड' को एक दूसरे का रूप मानते हैं। प्रत्येक मानव प्राणी 'विश्व' का जीवित एवं चल रूप है। उनकी धारणा है कि व्यक्ति के पिण्ड के रहस्यों के पूर्ण ज्ञान एवं उस पर पूर्ण आधिपत्य के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान प्राप्त किया का सकता है और उस पर विजय भी प्राप्त की जा सकती है।

योगसिद्धान्त के अनुसार विश्व शक्तितत्त्व की भेदात्मक आत्म-अभिव्यक्ति है। शक्तितत्त्व शिव या ब्रह्म (परमतत्त्व) से शाश्वत रूप से सम्बद्ध तथा अभिन्न है। किन्तु यह शिव के परम-श्रेष्ठ आत्म प्रकाश रूप को अपने भेदात्मक रूप से आच्छादित रखता है। यही शक्तितत्त्व प्रत्येक प्राणी के जीवन में क्रियाशील है और वही शिव सभी का वास्तविक आत्मतत्त्व है। शिव और शक्तितत्त्व के आनन्द मय अनाच्छादित एकत्व की पिण्ड तथा ब्राह्माण्ण मेंअनुभूति तथा व्यक्तिगत जीवन एवं विश्वप्रपंच में व्याप्त प्रकृति की समस्त क्रियाओं एवं विकास-चेष्टाओं में बन्धनातीत, दुःखातीत एवं सीमातीत परम-तत्त्व की प्रत्यक्षानुभूति करना प्रत्येक योगी का परम लक्ष्य है। इस दार्शनिक प्रणाली के अनुसार परमतत्त्व का वास्तविक स्वरूप

शिव के शाश्वत मिलन के द्वारा प्रकट किया जाता है या शक्ति को शिव के असीम वक्षस्थल पर शाश्वत रूप से नृत्य करती हुई मानकर परमतत्त्व के वास्तविक स्वरूप की कल्पना की जाती है। शिव अविकृत एकत्व है और शक्ति क्रियाशीला एवं आत्मविस्तारिणी है। शिव एक, नित्य, निःसीम अपरिवर्त्तनशील तत्त्व है जो कालातीत एवं सीमातीत है और शक्ति असीम गतिशील एवं क्रियाशील तत्त्व है और सदैव काल और सीमा के रूप में अपने को व्यक्त करती है। शिव, शुद्ध, भेदरहित, अज्ञेय चेतनतत्त्व है जबकि शक्ति अपने को विविध गोचर चेतनतत्त्वों—अनेक बौद्धिक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक प्रवृत्तियों—के रूप में व्यक्त करती है। शिव परम कल्याणकर है। वह गुण-दोष, विधि-निषेध, आदर्श और यथार्थ के भेदों से परे है जब कि शक्ति गुण-दोष, आदर्श-यथाथ की सापेक्षिता तथा एक से दूसरे तक की गतिशीलता के आधार पर व्यक्त होती है। शिव पूर्ण मौन है जब कि शक्ति अपने को क्रियाशीलता, उद्वेगशीलता तथा आत्मोच्चार में अभिव्यक्त करती है। शिव सदैव सर्वनिरपेक्ष है जबकि शक्ति दिव्य गतिशील है। सामान्य तर्क एवं कल्पना की दृष्टि से दोनों की मान्यतायें एक दूसरे की विरोधी हैं यद्यपि हम एक की धारणा दूसरे के अभाव में नहीं कर सकते।

अपने सांसारिक जीवन में हम शक्ति की सीमाओं में रहते हैं। शिव हमारी दृष्टि से परे है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वह अस्तव्यस्त ढंग से नाना रूपों में बँटी हुई दुनिया के असंख्य प्राणियों में एक है। वह अपने में सतत परिवर्तित होता हुआ अपने चारो ओर परिवर्तन लक्ष्य करता है। वह नित्य विविध प्रकार की इच्छाओं और भावनाओं, प्रवृत्तियों और व्यसनों, आदर्शों और उत्तेजनाओं से प्रभावित होता रहता है। वह परस्पर संघर्ष एवं द्वन्द्व पैदा करने वाले विरोधी स्वार्थों, आत्मरक्षा एवं आत्मविकास के लिए होने वाले संघर्षों तथा शक्तिमानों की सुरक्षा एवं दुर्बलों का विनाश

देखता है। वह एक विशाल दुनिया का अनुभव करता है; ऐसी दुनिया जो समय और स्थान की सीमाओं से परे प्रतीत होती है, जो विविध प्रकार के तत्त्वों एवं शक्तियों से भरी है और जो उसे अनेक रूपों में प्रभावित करती है। यह सब कुछ 'शक्ति तत्त्व' की ही अभिशक्ति है। इन सब के बीच में रहता हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने को सीमित एवं बँधा हुआ अनुभव करता है; दुखों और आपत्तियों को झेलता है और मुक्ति के लिये भीतर ही भीतर कामना करता रहता है। इस सीमित एवं परिवर्तनशील अस्तित्व की दुःखात्मक स्थिति से छुटकारा पाने के लिए वह पूर्ण शान्ति एवं एकता, अपरिवर्तनशील और अभेदात्मकता तथा शुद्ध कर्तृत्वरहितता एवं आनन्दमयत्व सर्वनिरपेक्ष चेतनता की स्थिति प्राप्त करना चाहता है। चेतना की क्रियाशील स्थिति दुःखात्मक अनुभूति होने के कारण एक पूर्ण एवं सर्वनिरपेक्ष चेतनात्मक स्थिति अधिक वाञ्छनीय प्रतीत होती है और शान्ति लाभ करने की एक मात्र स्थिति समझी जाती है।

जब कोई भी व्यक्ति इस आदर्श भावना से प्रेरित होता है तब वह सभी सांसारिक कार्यों से विमुख हो जाता है, अपने पारिवारिक एवं सामाजिक अधिकारों एवं दायित्वों के प्रति उदासीन हो जाता है, त्याग और तपस्या का जीवन स्वीकार करता है और सर्व निरपेक्ष चेतना की स्थिति की ओर ले जाने वाली आध्यात्मिक साधना के नियमित अभ्यास में लग जाता है। जब वह एकाग्रता और ध्यान के अभ्यास द्वारा समाधि की स्थिति में पहुँच जाता है तब अपनी चेतन आत्मा में अद्वैतता, अपरिवर्तनशीलता, अभेदात्मकता और शान्ति की अनुभूति करता है। उसकी चेतनआत्मा विश्वात्मा से मिलकर एक हो जाती है, वह 'शिव तत्त्व' से अभिन्न

हो जाता है। जब वैयक्तिक चेतना शिवत्व की अनुभूति कर लेती है, तब 'शक्ति तत्त्व' एक पृथक् सत्ता की भाँति अपनी क्रियाओं और अभिव्यक्तियों के साथ उसी प्रकार तिरोहित हो जाता है जिस प्रकार सत्य की अनुभूति होने पर भ्रम तिरोहित हो जाता है।

कुछ धर्म प्रधान दार्शनिक मत समाधि की दशा में चेतन आत्मा की अद्वैतात्मक, अभेदात्मक, अविकृत स्थिति को जबकि वह बन्धनों, सीमाओं एवं दुःखों से पूर्ण मुक्त रहती है, अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए इसे ही सत्यानुभूति का निश्चित मानदण्ड मानते हैं और इस अपरिवर्तनशील, अभेदात्मक और अद्वैतात्मक चेतना या 'शिव' को पूर्ण सत्य मानते हैं। इसी आधार पर वे शक्ति तत्त्व तथा उसकी भेदात्मक आत्माभिव्यक्ति को अवास्तविक एवं भ्रमात्मक मानते है।

गोरखनाथ सम्प्रदाय के सिद्ध योगी शक्ति तत्त्व को पूर्णतः भ्रमात्मक या अज्ञानजनित नहीं मानते; उनकी आध्यात्मिक साधना का अन्तिम लक्ष्य भी केवल शक्ति तत्त्व से छुटकारा नहीं पाता है वरन् वे शिव तत्व के साथ अभेद स्थापित करके उस पर एकाधिपत्य करना चाहते हैं। वे बलपूर्वक कहते हैं कि शिव और शक्ति, एकता और अनेकता, अपरिवर्तनशीलता और परिवर्तनशीलता, कर्तृत्त्व और निश्चलता तथा शुद्ध चेतनात्मक स्थिति और गतिशील चेतना में लक्षित होने वाला विरोध वस्तुतः सत्य नहीं है। हम दोनों सत्ताओं की अनुभूति या धारणा भी तब तक नहीं कर सकते जब तक हमारी चेतना समय और स्थान की सीमाओं में आबद्ध है और हम सांसारिक दृष्टि में देखते और सीमित दायरे में सोचते हैं। 'शक्ति' नित्य रूप शिव के वक्षस्थल पर स्थित होकर अपना कार्य

करतो है। 'शिव' से पृथक् और स्वतन्त्र उसकी कोई सत्ता नहीं है। 'शिव' वस्तुतः 'शक्ति' का आत्मतत्त्व है। 'शिव' के अभाव में 'शक्ति' की सत्ता नहीं है और 'शक्ति' के अभाव में 'शिव' की अभिव्यक्ति असम्भव है। शिव का असीम गौरव शक्ति रूप में प्रकट होता है; किन्तु हममे चेतना के निचले स्तरों में शक्ति तत्त्व की ही प्रधानता रहती है जो शिव के वास्तविक रूप को आच्छन्न किये रहती है। जब तक 'शिव' को स्वरूप का बोध नहीं होता, 'शक्ति' का वास्तविक रूप भी अज्ञात रहता है क्योंकि 'शिव' के अभाव में जिसे हम शक्ति रूप में जानते हैं वह उसका वास्तविक रूप नहीं हो सकता। यह जगत् असत्य नहीं है, वरन् हमलोगों की इस स्थिति की धारणा ही मिथ्या है क्योंकि इस स्थिति में हम शिव और उसकी शक्ति दोनों की अनुभूति नहीं कर सकते।

जब योग-दृष्टि प्राप्त हो जाती है—तब शिव के पूर्ण आत्म-प्रकाश एवं शक्ति की क्रियात्मक अभिव्यक्ति में किसी प्रकार की असंगति नहीं प्रतीत होती। शिव और शक्ति नित्य रूप से एक दूसरे से आबद्ध प्रतीत होते हैं, दोनों एकात्मभाव से प्रकाशित होते हैं न कि एक दूसरे के वास्तविक रूप को आच्छन्न या विकृत करता है। शिव और शक्ति एक ही आत्मप्रकाशित, अद्वैतात्मक परमतत्त्व के निश्चल एवं गतिशील रूप अनुभूत होते हैं और इस प्रकार न केवल एक दूसरे के निकट वरन् एक दूसरे से अभिन्न हैं। यह अनुभूत है कि एकत्व नानात्व का मूलाधार है और नानात्व एकत्व की ही आत्म अभिव्यक्ति है। अविकृत तत्त्व क्रियाशील और गतिशील तत्त्व की आत्मा है तथा गति और क्रिया अविकृत तत्त्व की ही आत्मअभिव्यक्ति है। आत्मज्योति चेतना की स्थितियों एवं गतियों की प्रकाशिका है और चेतना की स्थिति और गति वह विशिष्ट रूप है जिसके आधार पर आत्मज्योति अपने को प्रकाशमान करती है।

जब तक शिव अपने वास्तविक सर्वनिरपेक्ष रूप को किसी व्यक्ति की चेतन आत्मा के समक्ष प्रत्यक्ष नहीं करते, तब तक उनकी शक्ति ही उन्हें छिपाये रखती है, पृष्टभूमि में रखती है और उन्हें विरोधात्मक तत्त्व के रूप में प्रकट करती है और इस व्यक्ति की चेतना को शक्ति के द्वारा प्रकट शिव का नानात्वमय रूप पृथक् तत्त्व प्रतीत होता है। यद्यपि वह व्यक्ति स्वयं भी इन्हीं नाना-रूपों में से एक है। जब योगाभ्यास के बल से (जिसमें कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनों का समन्वित और नियंत्रित रूप आ जाता है) व्यक्ति की चेतना आध्यात्मिक अनुभूति के उच्चतम धरातल पर पहुंच जाती है तो शक्ति अपने नाना विचित्र रूपों के साथ न तो तिरोहित होती है और न भ्रमात्मक प्रतीत होती है, वह शिव के स्वयं प्रकाशित सर्व-निरपेक्ष, अद्वैतात्मक स्वरूप को आच्छन्न भी नहीं करती और भिन्नताओं को पृथक् वास्तविकता के रूप में ही प्रकट करती है। तब शक्ति तत्त्व अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्तियों के साथ अपनी आत्मा, अपने आधार, अपने प्रभु परमतत्त्व शिव के आत्मप्रकाश से प्रकाशित और उनकी एकता से एकरूपित अनुभूत होती है। सत्य के निश्चल और गतिशील रूप एक और पूर्ण प्रतीत होते हैं।

इसीलिये योगी यह दावा करते हैं कि 'परम तत्त्व' जो आध्यात्मिक साधना की उच्चतम भूमि में अनुभूत होता है 'द्वैताद्वैतविवर्जित' है। अर्थात् द्वैतवाद, अद्वैतवाद या अन्य किसी वाद से ऊपर है और यह किसी भी स्कूल के विद्वान की दार्शनिक पद्धति के द्वारा न तो समझाया जा सकता है न व्यक्त किया जा सकता है। सामान्य तर्क-पद्धति से इसका निरूपण भी नहीं हो सकता। सिद्ध योगी सांसारिक अनुभूतियों से परे, समय और स्थान के बन्धनों से ऊपर, तर्क निरपेक्ष, इन्द्रियातीत, सामान्य मानसिक धरातल से परे की अनुभूति के बल पर अपनी दार्शनिक मान्यताओं को सामने

रखते हैं। इस सिद्धान्त को वेदान्तिक सिद्धान्त का एक रूप कह सकते हैं जिसके अनुसार एक सर्वनिरपेक्ष आत्म चेतन तत्त्व ब्रह्म की सत्ता वास्तविक है और यही ब्रह्म विश्व का निमित्त और उपादान कारण है; जिसके अनुसार व्यक्तिगत आत्मायें विश्वात्मा से अभिन्न हैं, जिसमें ब्रह्म की क्रियात्मक शक्ति ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह होने पर भी अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में योगियों की दृष्टि अनेक बातों में शंकर के अद्वैत, रामानुज के विशिष्टाद्वैत और मध्व के द्वैताद्वैत से भिन्न है।

११--पूजा के रूप में साधना

गोरखनाथ जी के योग मन की साधना प्रणाली,पूजाविधान तथा शारीरिक एवं मानसिक संयम दोनों को महत्व देती है। एक पूजक सम्प्रदाय के रूप में गोरखपंथी योगी मुख्यत: 'शैव हैं। वे शिव और शक्ति को सम्पूर्ण सत्ता का एकमात्र कारण तथा जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर उनकी पूजा करते हैं। उन्होंने श्रद्धापूर्वक देश के कोने-कोने में 'शिव' और 'काली' के मंदिरों का निर्माण कराया है । शिव के वक्षस्थल पर नृत्य करती हुई काली के माध्यम से विश्व और इसके आन्तरिक सत्य के प्रति उनका दृष्टिकोण सुन्दरतम रूप में प्रकट होता है। यह होने पर भी वे हिन्दुओं के सभी देवी-देवताओं को मान्यता एवं श्रद्धा प्रदान करते हैं जिन्हें वे अनेक नाथ-रूपों में शिव-शक्ति की ही आत्म अभिव्यक्ति मानते हैं। दक्षिणी भारत, पश्चिमी भारत' बंगाल तथा अन्य स्थानों के बहुत से वैष्णव भक्त भी अपने सिद्धान्तों को गोरखनाथ से ही उद्भूत मानते हैं। विष्णु तथा उनके सभी अवतार नाथ योगियों के द्वारा विधिवत् पूजे जाते हैं। सिद्धों या अवधूतों की पूजा भी इस सम्प्रदाय में प्रचलित है। ये महिमामय सन्त उस पूर्ण आत्मानुभूति

की जीवित प्रतिमूर्ति हैं जो कि प्रत्येक योगी के जीवन का लक्ष्य है। इनकी पूजा और इनके ध्यान में साधना-पथ में साधक के मन को शुद्ध करने और प्रेरणा प्रदान करने की सामर्थ्य है। हृदय से गुरु-पूजा करने तथा उसके प्रति आत्मसमर्पण की भावना का अभ्यास करने का योगिक साहित्यमें बलपूर्वक निर्देश किया गया है। गुरु की कृपा के अभाव में योग-मार्ग में प्रगति तथा वास्तविक आध्यात्मिक ज्योति की प्राप्ति असम्भव मानी जाती है। गुरु अपनी जागृत आध्यात्मिक शक्ति को शिष्य में प्रेरित करके उसके मन में आध्यात्मिक ज्योति जगाता है और उसकी गुप्त आध्यात्मिक शक्ति को जाग्रत कर देता है। शिष्य गुरु को शिव से अभिन्न मानकर उसकी पूजा करता है और उसके प्रति श्रद्धा रखता है। मानो शिव स्वयं उसकी अज्ञानता, बन्धन और दुर्बलता को दूर करने के लिये तथा अपने और अपनी शक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान से उसकी आत्मा को प्रकाशित करने के लिये अपनी असीम करुणा के साथ अवतरित हुआ हो। 'गुरुवाद' गोरखनाथ जी की शिक्षाओं की एक विशिष्टता प्रतीत होती है जिसकी मध्य युग में विकसित होने वाले अनेक धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृति हुई थी।

एक पूजक सम्प्रदाय के रूप में योगियों की दृष्टि बड़ी उदार है। यह शिव, विष्णु और काली में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं मानता साथ ही किसी देवता के प्रति अश्रद्धा नहीं रखता। हिन्दू समाज की जातिगत संकीर्णता भी इसके अन्तर्गत नहीं है। पूजा के सम्बन्ध में, यह सम्प्रदाय चरित्रकी पवित्रता पर विशेष बल देता है, नैतिक नियमों के पालन पर कड़ी दृष्टि रखता है, हृदय की सच्चाई और भक्ति की भावना को प्रधानता देता है। पूजा के वाह्य विधानों-आचार और संस्कार, या विशेष नाम और रूप जिसमें परम देवता की पूजा होती है—की तुलना में उपर्युक्त बातों के आधार पर ही पूजकों

का आध्यात्मिक विकास निर्भर करता है। पूजा की यही पद्धति है जिसे गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियों ने उच्चवर्ग तथा जन साधारण को समान रूप से समझाया था और योगी सम्प्रदाय को एक लोकप्रिय धर्म बना दिया था।

१२—साधना और षडङ्ग योग

एक मानसिक शारीरिक साधना के रूप में इसे षडङ्ग योग कहते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत छः प्रमुख स्थितियाँ आती हैं। उदाहरणार्थ—'आसन' 'प्रणायाम' 'धारणा' 'ध्यान' और 'समाधि' 'यम' और 'नियम' जिसे पातञ्जलि ने योग-साधना की प्रथम दो स्थितियों के रूप में गिनाया है और जिन्हें उपर्युक्त छः स्थितियों के साथ जोड़ देने से उनका अष्टाङ्ग योग बन जाता है, गोरखनाथ जी के द्वारा अलग से उल्लिखित नहीं है; कदाचित् इसलिये कि इनका सम्बन्ध विश्वजनीन नैतिकता से है और सभी साधु पुरुष इनका पालन करते हैं चाहे वे योगसाधना में दीक्षित हों या न हों। समाधि की उच्चतम स्थिति में परमसत्य की अनुभूति होती है; शिव और शक्ति के शाश्वत आनन्दमय एकत्व का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, मानवात्मा को कैवल्य या पूर्ण एकत्व की प्राप्ति होती है और वह सभी प्रकार के बन्धनों, दुःखों और सीमाओं से मुक्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में योगी साधक विश्वनाथ शिव से अभिन्न हो जाता है।

योग-साधना पर लिखे हुए निबन्धों में कहीं-कहीं योगाभ्यास को 'मन्त्रयोग', 'लययोग', 'हठयोग' और 'राजयोग' में भी विभाजित किया गया है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि गोरख सम्प्रदाय विशेषतः हठयोग साधना में ही प्रवीण है। यह निश्चित रूप से सत्य

है कि गोरखनाथ जी तथा उनके अनुयायियों ने हठयोग की साधना को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप दिया और उन विविध शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जिनके अभ्यास से शारीरिक अवयवों, नाड़ी मण्डल तथा इन्द्रिय और मन पर पूर्ण संयम स्थापित किया जा सकता है। योग-साधना के क्षेत्र में उनकी इस महत्वपूर्ण उपलब्धि ने अन्य क्षेत्रों की उपलब्धियों को आच्छादित कर लिया। इससे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस योगी सम्प्रदाय से सम्बद्ध अनेक उपलब्ध कृतियों में मुख्यतः 'आसन', 'प्राणायाम', 'मुद्रा' 'धौति' 'चक्रभेद' 'नाड़ीशुद्धि' आदि की कठिन प्रक्रिया को तथा इनके महत्वपूर्ण परिणामों का ही उल्लेख किया गया है। लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि इस सम्प्रदाय के योगियों ने कभी भी 'हठयोग' को अपने आप में साध्य नहीं माना और योग-साधना की सभी विधियाँ उन्हें मान्य थीं, उनका उन्होंने अभ्यास और विकास भी किया। उन्होंने अपनी यौगिक प्रणाली में कर्म, भक्ति और ज्ञान के समन्वय की आवश्यकता को भी स्वीकार किया और इस लक्ष्य पर अधिक बल दिया कि योगाभ्यास की सभी क्रियायें, पूर्ण आत्मानुभूति सभी प्रकार की दुर्बलताओं, दुखों और बन्धनों से मुक्ति तथा शिवतत्त्व से एकत्व प्राप्ति के उच्चतम आदर्श की प्रधानता स्वीकार करके ही गृहीत हो सकती हैं।

१३—यम और नियम

यह पहले ही कहा जा चुका है कि यद्यपि नाथ-योगी अपनी षडङ्ग योग-साधना के अन्तर्गत आवश्यक अंगों 'यम' और 'नियम' की गणना नहीं करते, फिर भी प्रारम्भिक योग-साधना के रूप में उन्हें पर्याप्त महत्व देते हैं। पातञ्जलि द्वारा निर्धारित पाँच 'यम'

ग्रौर पाँच 'नियम' के भेदों के स्थान पर नाथ-योगी १० 'यम, ग्रौर १० 'नियम, की व्यवस्था करते हैं जिनका क्रमिक ग्रभ्यास प्रत्येक योग-साधना के जिज्ञासु के लिये ग्रावश्यक है। 'यम' के दस भेद इस प्रकार हैं—

अहिंसा सत्यम् ग्रस्तेयम् ब्रह्मचर्यम् क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमो दश॥

१—अहिंसा—सभी जीवों के प्रति, न केवल कर्मणा वरन् मनसा ग्रौर वाचा भी। तात्पर्य यह कि सभी व्यक्तियों ग्रौर जीव-धारियों के प्रति दुर्भावना ग्रौर शत्रुभाव का पूर्ण त्याग।

२—सत्यता—वाणी में ही नहीं, विचार ग्रौर ग्राचार में भी। ग्रर्थात् जीवन के प्रत्येक ग्रान्तरिक एवं वाह्य क्षेत्रों में सत्य की प्रवृत्ति ग्रौर पालन।

३—चोरी न करना—क्रिया से ही नहीं, विचार ग्रौर इच्छा से भी नहीं। तात्पर्य यह कि किसी भी व्यक्ति की कोई भी सम्पत्ति प्राप्त करने को तनिक भी इच्छा न करना। किसी दूसरे के बल पर किसी प्रकार का ग्रनुचित लाभ उठाना भी एक प्रकार की चोरी ही समझी जाती है। मन से इस भावना का भी निराकरण कर देना चाहिये।

४—सभी प्रकार की विषयासक्तियों और विशेषतः यौनेच्छा पर पूर्ण नियन्त्रण तथा शारीरिक ग्रौर मानसिक शक्तियों का सञ्चय—शक्ति को सावधानी के साथ ऊर्ध्वमुख परि-चालित करना चाहिये ग्रौर कभी भी इन्द्रिय विषयों के भोग

के लिये उसे उधोमुख नहीं करना चाहिये। पुरुषों को स्त्रियों से सम्पर्क स्थापित करने में विशेष सतर्क रहना चाहिये और इसी प्रकार स्त्रियों को पुरुषों से मिलने में सतर्कता वर्तनी चाहिये।

५—क्षमा—दूसरे के दोषों को क्षमा करना। यदि दूसरे लोग किसी आध्यात्मिक साधक की किसी प्रकार की हानि करते हैं या उसके साथ बुरा व्यवहार करते हैं तो उसे न तो बुरा मानना चाहिये और न बदले में उनकी हानि करने की बात सोचनी चाहिये। इससे तात्पर्य यह कि बुराई के प्रति भी अच्छाई करनी चाहिये, बुराई के प्रति बुराई नहीं करनी चाहिये। हानिकर्त्ता के प्रति किसी प्रकार की प्रतिकार की भावना या शिकायत नहीं होनी चाहिये।

६—धैर्य और सहनशीलता—सभी परिस्थितियों में धैर्य और सहनशीलता बनाये रखना चाहिये। एक आध्यात्मिक साधक को विकास पथ में जीवन की सभी प्रकार की विपरीत परिस्थितियों, और कठोरताओं को सहन करने की शक्ति का अभ्यास करना चाहिये। उसे कभी भी किसी भी परिस्थिति में दुर्बल, परेशान या संभ्रमित नहीं होना चाहिये वरन् अपने पथ में मुस्तैदी से आगे बढ़ना चाहिये।

७—दया—आपत्ति में पड़े हुये सभी जीवों और व्यक्तियों के प्रति दया भाव। इससे तात्पर्य है एक भावात्मक भ्रातृ-भावना से। दूसरे की कठिनाइयों और आपत्तियों को अपनी समझना तथा उन दुःखों और कठिनाइयों को दूर करने के लिये कुछ कर सकनें की आन्तरिक भावना और इस प्रकार उनके जीवन को सुखमय एवं शान्तिपूर्ण बनाना। एक आध्यात्मिक साधक को विश्व के सभी जीवों के प्रति दयाभाव रखना चाहिये, सभी के साथ एकता और सभी की सेवा की इच्छा रखनी चाहिये।

८—जीवन में सरलता—योगी साधक के जीवन में बनावट, छल, प्रपञ्च और कुटिलता नहीं होनी चाहिये। उसे निवास, भोजन और वस्त्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रदर्शन और बनावट के प्रदर्शन और बनावट के बिना सरलता का अभ्यास करना चाहिये। उसके आचार व्यवहार में किसी प्रकार की जटिलता नहीं होनी चाहिये। उसका वाह्य जीवन उसके आन्तरिक जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब होना चाहिये। उसे ऐसे व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये जो उसका अपना नहीं है।

९—मिताहार—एक आध्यात्मिक साधक को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि भोजन शरीर-रक्षा और पोषण के लिये है न कि रसना के स्वाद के लिये और न इच्छाओं की तुष्टि के लिये ही। उसे उचित समय पर उचित मात्रा में समुचित भोजन ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिये। उसे अपने मन और जिह्वा की अनुचित माँग के सामने नतमस्तक नहीं होना चाहिये।

१०—शरीर और मन की पवित्रता (शौच)—शारीरिक स्वास्थ्य के लिये उसके विभिन्न अंगों का विधिवत् प्रक्षालन करना, शुद्ध जल में स्नान करना, शुद्ध जल-पान करना, शुद्ध वायु में स्वाँस लेना, शुद्ध भोजन ग्रहण करना और सत्संगति करना आदि स्वास्थ्य नियमों पर ध्यान देना चाहिये और सावधानी से इनका पालन करना चाहिये। मन की शुद्धता के लिये विचारों, भावनाओं, प्रवृत्तियों, इच्छाओं और कामनाओं की पवित्रता का अभ्यास करना चाहिये।

आत्मसंयम की इन दश विधियों—वाह्य आचारों एवं आंतरिक विचारों, भावनाओं और इच्छाओं से सम्बद्ध—को 'यम' कहते हैं; ये

योग-साधना के लिये शरीर और मन को प्रस्तुत करने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

महान् योगी- शिक्षकों के द्वारा निर्धारित 'नियम' की दश निम्न-लिखित विधियाँ हैं:—

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम्।
सिद्धान्त वाक्य श्रवणं ह्री मतिश्च जपो हुतम्॥
नियमा दश संप्रोक्ता योग शास्त्र विशारदैः।

१—तप—से तात्पर्य आत्मसंयम के अभ्यास से है। अर्थात् जीवन के ऐसे क्रम को स्वीकार कर लेना जो शरीर और मन को इस योग्य बना सके कि वे किसी प्रकार की भौगोलिक या अन्य वाह्य परिस्थितियों के अनुसार फिट हो जायँ। प्रसन्नता पूर्वक नग्न शरीर से गर्मी, सर्दी और वर्षा तथा मौसम की अन्य विषमताओं को सहन करने का अभ्यास साथ ही अस्वादिष्ट तथा रूखा सूखा भोजन करना और कभी-कभी व्रत रखना, ये सब तपश्चर्या के अंग हैं। शरीर, इन्द्रिय और मन की सभी सुख-भोगमयी प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना और इस प्रकार पूरे जीवन को नियमित और संयमित करना।

२—सन्तोष—से तात्पर्य शुद्ध अन्तःकरण से अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये सामान्यतः जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से तुष्टि प्राप्त करने के अभ्यास से है। प्रत्येक स्थिति में शान्ति और प्रसन्नता भी सन्तोष के लक्षण हैं। प्रत्येक प्रकार के लोभ, सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की कामना और जो सांसारिक वैभव का भोग कर रहें हैं उनसे ईर्ष्या की भावना से मन को विरत रखना चाहिये। प्राप्त

नैतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। इस क्षेत्र में सतत् विकास की तीव्र इच्छा होनी चाहिये।

३—आस्तिक्य—से तात्पर्य वेदों में; गुरु के निर्देशों में और वर्तमान तथा प्राचीन साधकों और महात्माओं में विश्वास से है। प्रयत्नपूर्वक इस विश्वास का अभ्यास करना चाहिये। सन्देह, अविश्वास तथा छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति से मन को मुक्त रखना चाहिए। एक वास्तविक आध्यात्मिक जिज्ञासु को आत्मशक्ति में विश्वास बढ़ाने तथा महायोगियों और महाज्ञानियों के समान उच्चता प्राप्त करने के लिए उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों में विश्वास करना चाहिये।

४—दान—से तात्पर्य उदारता के अभ्यास से है। दयालुता, हृदय की विशालता और दूसरे से एकात्मभाव का अभ्यास इसके उपलक्षण हैं। मानवता और सहानुभूति की भावना के साथ जो कुछ हम पैदा करते हैं, उसे जो आवश्यकता में पड़ा हुआ है उसके लाभ के लिये दे देने से इसका अभ्यास होता है। आत्म उत्सर्ग तथा आत्मत्याग की एवं भौतिक वस्तुओं के स्वामित्व-भाव से मन को विरत करने की यह एक व्यावहारिक विधि है। ये भौतिक वस्तुयें ही आध्यात्मिक विकास के मार्ग में सबसे भयानक रोड़े हैं।

(५) ईश्वर पूजा—शास्त्र विधि के साथ प्रेम, आदर, श्रद्धा और भक्ति पूर्वक की उपासना ही 'ईश्वर पूजा' है। ईश्वर या परमात्मा को विश्व प्रपञ्च का स्वामी एवं प्रत्येक व्यक्ति और जीव की अन्तर्निहित आत्मा मानकर उनका मनन करना तथा श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उनका मनन ध्यान करना ही 'ईश्वर पूजा, की मूल-भावना

है। इस विश्वास को बल देना चाहिए कि यह जगत् ईश्वर का जगत् है और इस जगत् के समस्त कार्य-कलाप दैवी नियोजन के आधार पर ही होते हैं। विश्व प्रपञ्च के समस्त क्रियाकलापों में तथा अपने अन्तःकरण में भगवान् की दिव्य अनुभूति करनी चाहिए और उनके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना का विकास करना चाहिए। आराधक को भगवान् के प्रति अपना ममत्व, अहंकार के पोषक समस्त उपकरणों को समर्पित कर देना चाहिये और यह सोचना चाहिये कि स्वयं वह तथा उसके आधिपत्य में आने वाली सभी वस्तुयें भगवान् की ही हैं।

ईश्वर, जिसका कोई विशिष्ट रूप या नाम नहीं है और जो अपनी गहन एवं दुर्बोध शक्ति (माया) के द्वारा अनेक नाम-रूपों में व्यक्त होता है, किसी भी निश्चित आकार या नाम के आधार पर पूजित हो सकता है। यह रूप और नाम आराधक के हृदय को इस भावना से भावित करता है कि ईश्वर की परम श्रेष्ठ सर्व व्याप्त आध्यात्मिक सत्ता है और उसके हृदय में श्रद्धा, प्रेम, आत्मसमर्पण तथा प्रशंसा की भावनायें जाग्रत करता है। मानव समाज में ऐसे बहुत से सांकेतिक नाम प्रचलित हैं जो विभिन्न भाषा-भाषी जन-समुदाय के हृदयों में दैवी-चेतना जागृत करते हैं। किसी-किसी समुदाय में विशेष रूप या मूर्तियाँ भी कुछ विशिष्ट दैवी नामों मे सम्बन्ध है। गोरखनाथ का योगी सम्प्रदाय इन सभी को श्रद्धा अर्पित करता है और यह मानता है कि वही परमात्मा सभी नाम-रूपों में व्याप्त है। गोरखनाथ जी तथा उनके प्रबुद्ध अनुयायी ऐसी किसी प्रकार की संकीर्णता, हठधर्मिता या धार्मिक उन्माद को प्रोत्साहन नहीं देते जिन्हें वे आध्यात्मिक विकास के पथ में अवरोधक समझते हैं।

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत भगवान् के सभी पवित्र

नामों और रूपों के प्रति श्रद्धा रखते हुये भी और उन सब में एक ही ईश्वर की अनुभूति करते हुये भी, योगी सम्प्रदाय के शिक्षक 'शिव' के नाम-रूप को अधिक महत्त्व देते हैं; योग साधना के द्वार अनुभूति उच्चतम आध्यात्मिक आदर्श के साथ 'शिव, का मार्ग सहस्रों वर्षों से सम्बद्ध है। 'शिव' का नाम 'महायोगेश्वर, 'महा ज्ञानेश्वर, महात्यागेश्वर, 'महागुरु, के रूप में 'ईश्वर, की चेतना उद्‌बुद्ध करता है। यह वह 'परम व्यक्तित्व' है जिसमें योग, 'ज्ञान, 'त्याग, और 'प्रेम के तत्व शाश्वत रूप से पूर्णता प्राप्त करते हैं और जो सभी सत्यान्वेषियों के शाश्वत गुरु हैं। अतएव एक योगी की ईश्वर पूजा से तात्पर्य शिव-पूजा से है।

(६) 'सिद्धान्त वाक्य श्रवण'—से तात्पर्य शास्त्रों के क्रमपूर्ण श्रवण और अध्ययन से है, विशेषत: योग-शास्त्र के अध्ययन से, प्रबुद्ध गुरु के आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश में शास्त्रों में निहित सत्य को विवेक सहित समझने की चेष्टा करनी चाहिये। योग-साधना में प्रवेश करने के पहले सत्यान्वेषी को मानव आत्मा के सामान्य स्वरूप तथा मानव जीवन के अंतिम आध्यात्मिक आदर्श से सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये, सामान्य अनुभूति में आने वाले जगत् में अन्तर्निहित तथा इसी के रूप में व्यक्त परमतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को पहचानना चाहिये, शरीर, मन और बुद्धि की पूर्णता तथा परमतत्त्व और आत्मतत्त्व के प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान की ओर ले जाने वाली चेतना के पूर्ण प्रकाश के लिए योग-साधना के महत्त्व को जान लेना चाहिये, साथ ही योग-साधना की प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान भी प्राप्त कर लेना चाहिए। इस प्रकार के श्रवण, स्वाध्याय और विचार के द्वारा योग्य गुरु की शिक्षा का अनुसरण करते हुये क्रमिक अध्ययन और मनन से सभी प्रकार के

पक्षपातों, पूर्वग्रहों, बुरी धारणाओं, संकीर्णताओं, सभी अन्ध विश्वासों तथा साम्प्रदायिक हठधर्मियों को मन से निकाल देना चाहिये और अन्ततः क्या सत्य, शिव और सुन्दर है उसके अनुसन्धान की सच्ची भावना का विकास करना चाहिये।

(७) ह्री—से तात्पर्य किसी प्रकार के बुरे या दूषित कार्य करने से, अच्छाई, नैतिकता और आध्यात्यिकता के मार्ग मे हटने से, मन में किसी प्रकार की बुरे विचार, भावना या इच्छा के वनाये रखने से, अवाञ्छित, असत्य, हानिप्रद या हिंसात्मक शब्द-कथन से, होने वाले पश्चाताप और लज्जा से है। किसी के चरित्र पर कुप्रभाव डालने वाली प्रत्येक वस्तु के प्रति घोर घृणा की भावना के जगने का अभ्यास भी 'ह्री, के अन्तर्गत है।

(८) मति—से तात्पर्य कुशाग्र बुद्धि, गहन बोधक्षमता, संस्कृति रुचि और जीवन में शाश्वत आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति प्रयोग सिद्ध चेतना के विवेक पूर्ण झुकाव से है। मस्तिष्क साफ, विमल, विचारशील और सत्य को ग्रहण करने के लिये मुक्त होना चाहिये।

(९) जप—से तात्पर्य भक्ति और श्रद्धा पूर्वक मन में और जिह्वा में जितनी बार और लगातार जितने समय तक सम्भव हो सके भगवान के नाम की आवृत्ति से है। भगवान् के नाम को ईश्वर का जीवित शाब्दिक प्रतीक समझना चाहिये जिनके नाम की आवृत्ति इस चेतना को जीवित रखता है कि भगवान सर्व व्यापक है और सर्वत्र वर्तमान है यही नहीं नाम जप के द्वारा भक्त भगवान् से आध्यात्मिक सम्बन्ध बनाये रखता है। जप के लिये एक पवित्र विशिष्ट नाम चुन लेना चाहिये। गुरु के द्वारा प्राप्त नाम शक्ति युक्त होता है।

(१०) हुत या होम—पूजक के द्वारा भक्ति-भावना पूर्वक भोजन, जल तथा अन्य मूल्यवान पदार्थों को भगवान के प्रति अर्पित करना ही होम है। यह नित्य प्रति का समर्पण है। इस समर्पण के द्वारा जिन्दगी को उच्च और जीवनमुक्त बनाना चाहिये। जीवन को बनाये रखने के लिए जो भी आवश्यक है उसे पहले ईश्वर को अर्पित कर देना चाहिये और तब उस सामग्री को 'प्रसाद' रूप में ग्रहण करना चाहिये।

१४—हठयोग क्या है ?

ऐसा समझा जाता है कि 'हठयोग' के सम्बन्ध में नाथयोगी सम्प्रदाय विशेष ज्ञान रखता है। आदिनाथ के (जो सम्प्रदाय के आदि गुरु थे और जो महायोगेश्वर 'शिव' से अभिन्न समझे जाते हैं) शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ (जो मत्स्येन्द्रनाथ के प्रमुख शिष्य थे और जिन्हें शिव का सबसे अधिक महिमामय अवतार माना जाता है) तथा अन्य महायोगी, जिन्होंने इन लोगो का अनुसरण किया, सभी ने योग-साधना के इस विशिष्ट प्रकार के सम्बन्ध में बहुमूल्य ज्ञान प्रदान किया है। इन लोगों ने हठयोग का विस्तार किया, शिक्षा दी, और इसे इतना अधिक लोकप्रिय बनाया कि सामान्य व्यक्ति के लिए संकीर्ण अर्थ में 'योग' से तात्पर्य 'हठयोग' से ही हो गया।

सामान्यतः 'हठयोग' का अर्थ है 'हठेन बलात्कारेण योगसिद्धिः' अर्थात् बलपूर्वक योग-साधाना में सिद्धि लाभ करना। किन्तु सम्प्रदायान्तर्गत इसका विशेष अर्थ भी प्रचलित है। 'ह' 'सूर्य, को कहते है जो शरीर के भीतर 'इड़ा' नाम से जाना जाता है; 'ठ' 'चन्द्र' को कहते हैं जिसे 'पिङ्गला' नाम दिया गया है। कभी कभी

'ह' से 'प्राण' और 'ठ' से 'अपान' का तात्पर्य लिया जाता है। पुनः 'ह' से 'विन्दु' और 'ठ' से 'रज' का भी अर्थ लेते हैं। शास्त्र के अनुसार सभी शारीरिक अवयवों की कियायें, ज्ञान, भावना, इच्छा और क्रिया-तत्त्वों के सभी कार्य तथा सभी आन्तरिक चेष्टायें, चाहे स्वच्छा से हों या अनिछा से, चाहे चेतन स्थिति में हों या अचेतन स्थिति में', यह सभी कुछ नाड़ी-मंडल के द्वारा, जिनकी संख्या ७२००० है, संयमित एवं नियोजित होती हैं। यह नाड़ी-मंडल भी 'इड़ा' 'पिङ्गला' तथा 'सुषुम्ना' तीन प्रमुख नाड़ियों से सम्बद्ध और शासित है। 'सुषुम्ना' सूक्ष्म केन्द्रीय नाड़ी है जो पृष्ठ प्रदेश के उच्चतम से निम्नतम सीमान्तों तक गुजरती है और 'इड़ा' तथा 'पिङ्गला' पृष्ठ प्रदेश के दोनों तरफ होकर गुजरतो हैं। ये सुषुम्ना से विशेष विन्दुओं पर मिलती हैं जिन्हें चक्र कहते हैं। शरीर के सुक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों और अवयवों को संगठित तथा क्रियाशील करने में ये दोनों बहुसंख्यक सामान्य नाड़ियों द्वारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। ये दोनों श्वासेन्द्रियों से अत्यधिक सम्बद्ध हैं और श्वासक्रिया से संचालित होती हैं। शरीर के भीतर कार्य करने वाली सभी प्राण—शक्तियाँ-प्राण, 'अपान', 'समान 'उदान' और 'व्यान'—'इड़ा' और पिङ्गला' की सुचारु क्रिया 'शीलता और श्वास क्रिया की नियमित व्यवस्था पर निर्भर करती हैं जिसके द्वारा प्रतिक्षण बाह्य वातावरण से शूद्ध वायु फेफड़ों में जाता है और भीतरी वायु बाहर निकलता रहता हैं। जीवन के सामान्य क्रम में श्वासकिया, 'इड़ा' और 'पिङ्गला' का संचालन; प्राण-शक्तियों को क्रीयाशीलता, नाड़ियों की सामान्य कार्यप्रणाली, ये सभी प्रकृति के कार्य हैं जो रात-दिन जाग्रत एवं सुप्त अवस्था में बिना किसी प्रकार की इच्छा या प्रयत्न के स्वयं होते रहते है। शरीर के भीतर होने वाली प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण क्रियायें सामान्यतः हमारे नियन्त्रण या इच्छा से ही नहीं, स्वतः होती हैं। इन सभी को अपनी

इच्छा-शक्ति और विवेक से संयमित करना तथा इनमें पूर्ण सुखद सामञ्जस्य और एकता स्थापित करना ही हठयोग का लक्ष्य है। इड़ा और पिङ्गला की सुषुम्ना से; 'प्राण' और 'अपान' वायुओं की जीवन शक्ति के केन्द्र-विन्दु से, 'विन्दु' और 'रज' को सम्पूर्ण मानसिक-शारीरिक शक्ति के केन्द्र-विन्दु से और अन्ततः चेतना की उच्चतम स्थिति में शिव और शक्ति की एकता स्थापित करना हठयोग की साधना का अंतिम साध्य है।

सभी युगों में साधारण आदमी यह मान लेते हैं कि शरीर के आन्तरिक अवयवों और शारीरिक अस्तित्व की रक्षा के लिए उनके परस्पर सम्बद्ध कार्यों पर मानव-मस्तिष्क का नियत्रण सीमित है। मस्तिष्क अपने सचेष्ट ऐछिक प्रयत्नों से; भोजन, जल और वायु की उचित पूर्ति से ; बाह्य अंगों के समुचित संचालन से; उचित भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के निर्माण से तथा इसी प्रकार के अन्य उपायों से उन आन्तरिक अवयवों के नियमित संचालन के लिए अनुकूल परिस्थितियों का सृजन कर सकता है और इस प्रकार कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव डाल सकता है। लेकिन ऐसा समझा जाता है कि मस्तिष्क कभी उनपर पूर्ण या पर्याप्त नियन्त्रण नहीं रख सकता; मस्तिष्क कभी भी शरीर पर पूर्ण स्वामित्व नहीं स्थापित कर सकता।

इस तथ्य से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि मस्तिष्क का स्वभाविक संचालन शरीर की नियमित क्रियाशीलता पर निर्भर है। कुछ लोग तो शारीरिक क्रियाशील तत्त्वों से पृथक किसी प्रकार के मनस्तत्त्वो की स्थिति ही स्वीकार नहीं करते। जो भी हो, यह सर्व-सम्मत तथ्य है कि मन और शरीर में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। बिना स्वस्थ शरीर के स्वस्थ मन की कल्पना नहीं की जा सकती।

जब तक शारीरिक अवयवों में पूर्ण सामञ्जस्य तथा इन अवयवों और इनके वातावरण में सन्तुलन नहीं स्थापित होता तब तक मस्तिष्क को पूर्ण शान्ति और आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। वातावरण की प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली प्रतिक्रियाओं के बीच शारीरिक अवयवों की स्वाभाविक क्रियाशीलता में पूर्ण सामञ्जस्य की स्थिति नहीं आ सकती। इसीलिये सामान्य जीवन-क्रम में मन प्रायः अशान्त रहता है; चिन्ताओं और आतुरताओं से भरा रहता है; विविध प्रकार के विचारों, भावनाओं और इच्छाओं से खिन्न रहता है और कभी भी अपने में शान्ति का अनुभव नहीं करता। अपने में शाश्वत शान्ति, एकता और निश्चलताप्राप्त करने के लिए जिसके लिये इसकी आन्तरिक उत्कण्ठा रहती है, मन को या तो मानसिक और शारीरिक सीमाओं का अतिक्रमण करना पड़ता है या यथासम्भव इन पर स्वामित्व स्थापित करना पड़ता है।

मानसिक और शारिरिक अनुशासन के लिए योगियों ने एक अद्भुत उपाय खोज निकाला है जिसके द्वारा सम्पूर्ण शारीरिक अवयव विवेकपूर्ण संकल्प से नियन्त्रित हो सकते हैं; सभी प्राण-शक्तियों और आन्तरिक अवयवों तथा नाड़ी-चक्र के संचालन में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है और परम शांति एवं चेतन-ज्योति की अनुभूति के लिए सभी प्राण-शक्तियों और मानसिक शक्तियों को ऊर्ध्वमुख या अधोमुख संचालित किया जा सकता है। शक्ति की इच्छानुरूप ऊपर या नीचे गतिशील होने की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से रोकी जा सकती है तथा आत्मा के सम्पूर्ण मानसिक शारिरिक मूर्त प्रतीक को इस सीमा तक पवित्र, नियमित,सामञ्जस्य-मय, एकतापूर्ण और आध्यात्मिक बनाया जा सकता है कि इसके द्वारा निरपेक्ष,आनन्दमय आत्मप्रकाशित असीम एवं अविकारी आत्मतत्त्व

की पूर्ण अनुभूति, बिना किसी विघ्न-बाधा के, को जा सकती है। यही हठयोग की साधना हैं।

योगियों ने भी ऐसा अनुभव किया कि शारीरिक अवयवों पर स्वामित्व और उनमें परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते समय व्यक्ति के मन में कुछ ऐसी आश्चर्यजनक शक्तियों का विकास हो जाता है कि तनिक भी इच्छा करने पर वह ऐसे कार्य सम्पन्न कर सकता है जो जन-साधारण के लिए विचित्र और अलौकिक प्रतीत होते हैं। उसके ज्ञान और दृष्टिकोण में आश्चर्यजनक ढंग से विस्तार हो जाता है। जिस वस्तु पर वह अपना ध्यान केन्द्रित करता है उस वस्तु का अन्तर्निहित सत्य प्रकट हो जाता है। सामान्य जीवन में जो शक्तियाँ मन के भीतर छिपी रह जाती हैं और शारीरिक अवयवों के अनियन्त्रित क्रियाकलापों के द्वारा सीमित होने के कारण व्यक्त नहीं हो पातीं, वे इच्छा मात्र से असाधारण ज्ञान या क्रिया के रूप में व्यक्त हो सकती हैं। मन नेत्रों की सहायता के बिना भी ऐसी अनेक वस्तुओं को देख सकता है जो दृष्टिगोचर नहीं हो पातीं। वह ऐसी ध्वनियों का श्रवण कर सकता है जो कानों की श्रवण-शक्ति के बाहर हैं। यदि वह अपना ध्यान केन्द्रित करे तो विगत और भावी अनेक घटनाओं को भी प्रत्यक्ष अनुभूत कर सकता है। वह इच्छा मात्र से दूसरों के मन की बात जान सकता है, वह स्वेच्छा से अपनी शारीरिक प्रक्रिया में कोई भी परिवर्तन कर सकता है।

साधक योगी के मन में साधना की अन्तिम स्थिति तक पहुँचे बिना भी हठयोग के अभ्यास से इस प्रकार की अनेक शक्तियों का विकास हो जाता है।

विशिष्ट आश्चर्यमयी शक्तियों को प्रकट करने के लिए विभिन्न

नियमित अभ्यास निर्धारित हैं। हठयोग की साधना के अभ्यास से व्यक्ति क्रमशः ऐसी शक्तियों के प्रति सजग और जागरूक हो जाता है जो सामान्यतः न तो कल्पना में आती हैं और न जिनका स्वप्न में भी ध्यान आ सकता है किन्तु जो मनुष्य के मन की अतल गहराई में अक्रियाशील अव्यक्त स्थिति में विद्यमान रहती हैं। यदि कोई व्यक्ति सच्चाई के साथ धैर्यपूर्वक आवश्यक साधना में एकनिष्ठ होकर लग जाय और उसे योग्य गुरु का निर्देश मिलता रहे तो ये शक्तियाँ व्यक्त और क्रियाशील स्थिति में आ सकती हैं। गोरखनाथ-सम्प्रदाय के बहुत से महान् योगियों ने, जिन्होंने हठयोग की साधना में महती सफलता प्राप्त की थी, प्रत्यक्ष प्रदर्शन के द्वारा लोगों को दिखा दिया था कि मानव-मन असीम शक्तियों का अपरिमेय समुद्र है और यदि ये शक्तियाँ जाग्रत और प्रकट की जायें तो वह न केवल शारीरिक यन्त्र-रचना और इसके अन्तर्गत कार्य करने वाले भौतिक रासायनिक और जैवी तत्त्वों पर ही पूर्ण स्वामित्व स्थापित कर सकता है वरन् बाह्य जगत् में क्रियाशील प्रकृति की शक्तियों पर भी नियन्त्रण कर सकता है। हठयोग की साधना के प्रचार से इन शिक्षकों ने मानव-संस्कृति को एक अमूल्य वस्तु प्रदान की है। उन्होंने सिखाया है कि एक चेतन और आध्यात्मिक प्राणी के रूप में न केवल आन्तरिक दृष्टि से महत्तर है वरन् निश्चित रूप से प्रकृति की सभी शक्तियों से अत्यधिक शक्ति सम्पन्न है। यदि वह इच्छा करे और अपनी शक्तियों को जाग्रत करने के लिए आवश्यक संयम का पालन, करे तो उनके ऊपर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है।

हठयोग शरीर-रचना के सूक्ष्म निरीक्षण तथा शरीर के अन्तर्गत प्राण एवं मानसिक शक्तियों की क्रियाशीलता के नियमों पर आधारित है। योगी शिक्षकों ने शरीर एवं मन की जटिलतम रचना-प्रणाली के शक्तियुक्त केन्द्र की खोज की और इस केन्द्र-विन्दु के

नियन्त्रण की आश्चर्यजनक विधि का आविष्कार किया ताकि शरीर के सभी कार्यों, प्राण और मन के ऊपर भी इस केन्द्र-विन्दु से आधिकारिक प्रभाव स्थापित कर सके। उन्होंने चेतना के विभिन्न स्तरों की भी खोज की और उन विभिन्न तलों को भी खोज निकाला जिनमें प्राण-शक्ति और मनोशक्ति व्याप्त होकर शरीर रचना का नियमन कर सकें। सम्पूर्ण शरीर, प्राण और मन की रचना का वास्तविक केन्द्र-विन्दु उच्चतम तल में माना गया। यह ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिये कि भौतिक शरीर के प्रत्यक्षतः विरोधी दीखने वाले अवयव भी एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा उत्तेजित, नियमित एवं संगठित किये जाते हैं। यह केंद्रीय शक्ति शरीर के किसी विशेष भाग में न होकर प्राण-शक्ति में निहित है जो कि एक उच्चतर स्थिति की वास्तविकता है और जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और इसका अतिक्रमण भी कर जाती है। यह प्राण-शक्ति यद्यपि अपनी एकता कभी भी नहीं खोती, फिर भी शरीर के विभिन्न अंगों से सम्बद्ध होते समय विभिन्न रूप और नाम ग्रहण कर लेती है। यह रूप और नाम निश्चय ही भौतिक नहीं होते और प्राण-शक्ति द्वारा विभिन्न अंगों से सम्बन्धित विभिन्न सापेक्ष कार्यों के सम्पादन के अनुरूप होते हैं। वे मुख्यतः पाँच प्राणों में विभाजित हैं—उदाहरणार्थ—'प्राण' 'अपान', 'समान','उदान' और 'व्यान'। इस प्राण-शक्ति की स्थिति के विभिन्न तल हैं। प्राण-शक्ति की स्थिति के ये तल 'चक्र' कहलाते हैं जिनकी संख्या 'छः' 'सात' या इससे भी अधिक है। प्राण-शक्ति के उच्चतर या निम्नतर तलों की ओर उन्मुख होने के अनुसार इसके द्वारा शारीरिक क्रियाओं के नियमन के ढंग में भी विचारणीय अन्तर पड़ जाता है।

मानव-जीवन में यह प्राण-शक्ति मनस्तत्त्वों में निवास करनेवाली केन्द्रीय शक्ति से नियमित होती है। जीव-रचना का शक्ति-

शाली केन्द्र मन में है जो प्राण-शक्ति से उच्चतर स्थिति की वास्तविकता है और जो प्राण-तत्त्व में व्याप्त भी है और उसका अतिक्रमण भी कर जाती है। इस मन के विकास की भी अनेक स्थितियाँ हैं और इसकी आत्माभिव्यक्ति के अनेक स्तर हैं। जैसे जैसे यह उच्चतर स्थितियों की ओर उन्मुख होती जाती है, मनुष्य का व्यक्ति और वातावरण के प्रति दृष्टिकोण बदलता जाता है, वह क्रमशः अधिक ज्ञानयुक्त होता जाता है, उसकी मानसिक, जीवनगत तथा शारीरिक प्रक्रियाओं में गहनतर सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है; सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली विवेकयुक्त इच्छा-शक्ति के सचेष्ट नियमन के अन्तर्गत आ जाती है और उसकी चेतना दिव्य ज्योति से अधिकाधिक ज्योतिर्मय हो जाती है। मन तथा सम्पूर्ण कार्यप्रणाली का अन्तिम शक्तिशाली केन्द्र-विन्दु 'भगवत् आत्मा' में निहित है जो अस्तित्व के उच्चतम स्तर पर निवास करती है, जो मानसिक स्तर से परे उससे निरपेक्ष, पूर्ण प्रकाश, पूर्ण सामञ्जस्य, पूर्ण शान्ति और आनन्द, पूर्ण ज्ञान और शक्ति की स्थिति है। यह दिव्य आत्मा केवल व्यक्ति के जीवन का ही शक्तिशाली केन्द्र-विन्दु नहीं है वरन् सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च को नियोजित करने वाला केन्द्र-विन्दु है। व्यक्ति और विश्व-के सम्बन्ध में यह एक सुन्दर भावना है और इसीके ऊपर हठयोग की साधना आधृत है।

हठयोग का लक्ष्य प्राण-शक्ति और मनोशक्ति को (बलात्) निम्नतम भौतिक तल से प्राण-भूमि से परे, मनोभूमि से परे उच्चतम आध्यात्मिक भूमि—दिव्य भूमि—तक ले जाना है जहाँ प्राण और मन दिव्य आत्मा के साथ आनन्दमय एकत्व की अनुभूति करते हुए पूर्ण आत्मतोष लाभ करते हैं; जहाँ प्रकाशमान चेतना और ज्योतिर्मय शक्ति की पूर्ण एकता की अनुभूति होती है; जहाँ न केवल व्यक्ति-

मत सत्ता की आन्तरिक एवं बाह्य स्थितियों वरन् विश्व-प्रपञ्च के सभी क्रिया-कलापों में पूर्ण सामञ्जस्य की शान्तिमयी स्थिति की सुखद अनुभूति होती हैं। हठयोग प्राण और मन को क्रमशः नैतिकता और आध्यात्मिकता की उच्चतर भूमियों तक ले जाने की एक प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के द्वारा उच्चतर भूमियों में प्राण और मन की शक्ति का विकास करके निम्नतर भूमियों की गति और क्रिया पर प्रभावपूर्ण एवं गतिशील नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। इसकी मूल भावना यह होती है कि मनुष्य का पूर्ण व्यक्तित्व अर्थात् भौतिक शरीर,कर्म और ज्ञान की इन्द्रियाँ,आन्तरिक प्राण-शक्ति-तत्त्व और नाड़ी-चक्र तथा मन की इच्छायें, प्रवृत्तियाँ-सभी दिव्य आत्मा के प्रकाश से ज्योतिर्मय होकर विश्व-प्रपञ्च के साथ आनन्दमय सामञ्जस्य का अनुभव करें।

किन्तु हठयोग की साधना तक पहुँचने की कुञ्जी क्या हैं? साधारण जीवनक्रम में नाड़ी-चक्र तथा प्राण-शक्ति-तत्त्व की अधिकांश क्रियायें हमारी इच्छाशक्ति से नियन्त्रित नहीं होतीं। मानसिक वृत्तियाँ और इच्छायें प्रायः अनियन्त्रित होती हैं और उनके प्रवृत्त होने का अपना ढंग होता है; उन्हें नियन्त्रण में कैसे लाया जाय? उनपर स्वामित्व कैसे स्थापित किया जाय? इसके लिए यह आवश्यक है कि हम उन्हीं प्रक्रियाओं से आरम्भ करें जो अपेक्षाकृत सरलता से संयमित हो सकती हैं, जो हमारी इच्छा-शक्ति के सामने सरलता से झुक सकती हैं। योगी शिक्षकों ने मांसपेशियों के नियोग, श्वास-नियोग और चित्त-नियोग के अभ्यास को हठयोग की साधना की कुञ्जी के रूप में प्राप्त किया। हम अपेक्षाकृत सरलता के साथ ऐच्छिक मांसपेशियों पर नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं और उनके द्वारा अनैच्छिक मांसपेशियों को भी विधिपूर्वक अपनी इच्छाओं के अधीन कर सकते हैं। पश्चात् हम श्वास-प्रक्रिया पर भी

सापेक्षिक नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं। श्वास-प्रक्रिया के सचेष्ट नियमन के द्वारा शरीर के सभी आन्तरिक अवयवों से भी सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और वे क्रमशः शुद्ध, संस्कृत और सामञ्जस्यमय तथा इच्छाधीन भी किये जा सकते हैं। सभी प्रक्रियाओं में ध्यान की एकाग्रता महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। दृढ़चित्तता तथा ध्यान की एकनिष्ठता पदे-पदे आवश्यक हैं। क्रमशः मन निम्नतर भूमियों में स्थित सभी प्रकार के कलुषों वा चपलताओं, अवांछित विचारों, भावनाओं, इच्छाओं, प्रवृत्तियों और रुझानों से मुक्त हो जाता है और विवेक तथा शक्ति की उच्चतर भूमियों में पहुँच जाता है।

षडाङ्ग योग मनुष्य की सम्पूर्ण अनुभूत सत्ता के नियमन की क्रमिक विधि है। जिस प्रकार मनयुक्त जीवित शरीर के सभी अवयव क्रमशः सम्बद्ध हैं उसी प्रकार मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व को पूर्ण सामञ्जस्यमय, पवित्र, संस्कृत, और आध्यात्मिक ज्योति से युक्त करने की इच्छा से निर्धारित योगसाधना के सभी अंग परस्पर सम्बद्ध हैं। यह शारीरिक, मानसिक, प्राणतत्त्व सम्बन्धी, नैतिक और आध्यात्मिक आत्मानुशासन की पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति है। सम्प्रदाय में दीक्षित शिष्य को सुयोग्य गुरु के निर्देशों के अनुसार साधना की विभिन्न स्थितियों से गुजरना पड़ता है। गुरु को साधना की स्थिति विशेष या प्रक्रिया विशेष का निर्देश करते समय सम्पूर्ण साधना-प्रणाली के व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखना चाहिये।

साधना की विशेष स्थितियों में अनुशासन की विशेष विधियों और रूपों पर बल दिया जाता है। इस प्रकार आसनों का अभ्यास करते समय मांसपेशियों और स्थूल शरीर के अंग-उपाङ्गों के नियमन पर विशेष ध्यान दिया जाता है किन्तु योगाभ्यास की प्रगति के साथ

जटिल आसनों का अभ्यास करते समय प्राणायाम की क्रिया भी आवश्यक हो जाती है। प्राणायाम से तात्पर्य उन क्रियाओं के अभ्यास से है जिनका निर्धारण प्राणतत्त्वों के नियन्त्रण के लिए किया गया है और इस अभ्यास में विशेष महत्त्व श्वास-प्रक्रिया के विधिवत् नियमन को दिया जाता है क्योंकि आन्तरिक प्राणतत्त्वों एवं नाड़ीचक्र के नियन्त्रण के द्वार की यही प्रमुख कुञ्जी है। केन्द्रीय नाड़ियों—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना–द्वारा सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त सहस्रों नाड़ियों के विधिपूर्वक सञ्चालन में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है उसका उल्लेख किया जा चुका है। इड़ा और पिङ्गला को नियन्त्रित करने से पूर्ण नाड़ी-चक्र पर नियन्त्रण हो जाता है और इनका नियन्त्रण विशिष्ट निर्देशों की छाया में निर्धारित प्राणायाम की साधना से पूरा हो जाता है। इसलिये हठयोग में प्रथमतः प्रायः 'इड़ा' और 'पिङ्गला' नाड़ियों के प्रभावपूर्ण नियन्त्रण को ही माना जाता है। इन नाड़ियों को सुषुम्ना से मिला देते हैं जो सूक्ष्मतम और केन्द्रीय नाड़ी है। 'प्राणतत्त्व' और 'मनस्तत्त्वों' को, जो सामान्यतः 'इड़ा' और 'पिङ्गला' के चारों ओर गतिशील रहते हैं और उनकी स्वाभाविक वायु-धारा से भीतर और बाहर खिचते रहते हैं, सुषुम्ना में केन्द्रित करना होता है और इसीके बीच से उच्चतर भूमियों में चढ़ाना होता है जब तक कि वे उच्चतम आध्यात्मिक भूमि तक न पहुँच जायँ और पूर्णतः ज्योतिर्मय होकर परम आत्मा शिव से एकत्व न स्थापित कर लें।'आसन' और 'प्राणायाम' के साथ ध्यान-निष्ठा से युक्त 'मुद्रा' 'बन्ध' और 'लेष' इत्यादि का, जो इन्हीं दो के विकसित रूप हैं, निर्धारण आत्मा के शारीरिक, प्राणतत्त्व सम्बन्धी और मानसिक प्रतीकों को नियन्त्रित करने तथा उनमें शान्ति और सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए किया गया है। इन्हींकी साधना से आन्तरिक जीवन-शक्ति और मानसिक शक्ति को इसकी दासता और बन्धनों से मुक्त किया जा सकता है। यद्यपि 'प्रत्याहार', 'धारणा',

'ध्यान', और 'समाधि' की साधनायें भी कुछ सीमा तक निस्सन्देह इन क्रियाओं में आ जाती हैं किन्तु मुख्यतः इनका अभ्यास प्राण एवं मनःशक्तियों को परमात्मा में एकनिष्ठ करने और उच्चतम शक्ति और सत्य की अनुभूति करने के लिए किया जाता है।



१५—आसन, प्राणायाम, मुद्रा

आसन, जैसा कि योगशास्त्रों में उल्लिखित है, विशेषतः शारीरिक अवयवों का नियमित एवं निर्धारित व्यायाम हैं जिनके द्वारा अनेक मांसपेशियों तथा शारीरिक अवयवों को स्वेच्छा से नियन्त्रित किया जा सकता है, जिनसे विभिन्न शारीरिक अवयवों की असंगत क्रियाओं से उत्पन्न अनेक रोगों, व्याधियों और कलुषों को दूर किया जा सकता है तथा शरीर को स्वस्थ, पुष्ठ, सचेष्ट बनाया जा सकता है। साथ ही इसे इस योग्य बना सकते हैं कि यह भीतर और बाहर कार्य करने वाले विरोधी तत्त्वों को धैर्य एवं शान्ति से सहन कर सके। हठयोग के ग्रन्थों में ४८००० आसनों का उल्लेख है जिनमें ७४ विशेष उपयोगी समझे जाते हैं। कुछ आधुनिक शरीर-सुधारक संस्थाओं (फीजिकल कल्चर इन्स्टिट्यूशनों) में सुयोग्य व्यक्तियों के द्वारा तरुण बालक-बालिकाओं को इन आसनों में से अनेक के अभ्यास का निर्देश देने की व्यवस्था की गयी है। इन्हें शारीरिक व्यायाम की अत्यधिक उपयोगी प्रणाली माना जाता है जिससे शरीर के सभी प्रमुख अंगों को स्वास्थ्य एवं शक्ति प्राप्त होती है।

योग-साधना की दृष्टि से चार प्रकार के आसनों—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन, और भद्रासन—को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इन चारों में भी योगी सिद्धासन को सर्वोत्तम मानते हैं। कहा जाता है कि यह ७२००० नाड़ियों को शुद्ध करता है और मुक्ति का द्वार खोलता है। हठयोग की प्रामाणिक कृतियों में सभी महत्त्वपूर्ण आसनों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। आसनों—विशेषतः जटिल आसनों—का अभ्यास सुयोग्य शिक्षक के निर्देश के अनुसार 'यम' और 'नियम' आवश्यक विधियों की अवज्ञा न करते हुये करना चाहिये अन्यथा अवाञ्छित प्रभावों की सम्भावना हो सकती है। सुयोग्य शिक्षक की छाया में, भोजन की नियमित व्यवस्था और नैतिकता के साथ, उपयुक्त आसनों का विधिवत अभ्यास शरीर को 'प्राणायाम' 'मुद्रा' तथा अन्य यौगिक-विधियों के अभ्यास के योग्य बना देता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि अनेक महत्त्वपूर्ण आसनों के अभ्यास के साथ 'प्रणायाम' और 'मुद्रा' तथा ध्यान की एक-निष्ठता भी आवश्यक तत्त्व माने गये हैं।

हठयोग की साधना में प्राणायाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे निश्चित रूप से पूर्ण जीवरचनाप्रणाली—प्राणतत्त्व को जाग्रत और केन्द्रित करना और सञ्चित-केन्द्रित प्राण-शक्ति परमतत्त्व से युक्त होने के लिये ऊर्ध्वमुख होना—पर आधिपत्य स्थापित हो जाता है। इस साहसिक कार्य की कुञ्जी श्वासक्रिया का भली भाँति नियोजित और प्रेरित नियमन और नियन्त्रण ही है। श्वास-यन्त्र शरीर के सभी आन्तरिक अवयवों से सम्बद्ध है। शरीर की सामान्य स्थिति में इन आन्तरिक अवयवों की सुचारु क्रियाशीलता बाहर से शुद्ध वायु को भीतर खींचने और भीतर की अशुद्धियों से युक्त वायु को बाहर निकालने की नियमित श्वास-क्रिया पर अत्यधिक निर्भर करती है। प्रत्येक पूर्ण श्वास-क्रिया के तीन कार्य होते हैं—(१) भीतर वायु

खींचना (पूरक), (२) बाहर वायु निकालना (रेचक) और (३) इन दोनों स्थितियों के बीच की सक्रान्तिकालीन स्थिति (कुम्भक) एक स्वस्थ्य व्यक्ति की पूरी श्वास-क्रिया में कुल चार सेकेन्ड लगते हैं और संक्राति की स्थिति कठिनाई से लक्ष्य की जा सकती है। जाग्रत और सुप्त सभी स्थितियों में इस क्रिया की आवृत्ति होती रहती है और २४ घण्टों में यह आवृत्ति २१६०० बार होती है। निर्धारित विधि का कठोरता से अनुसरण करते हुए श्वास-प्रक्रिया को नियमित करना तथा गहरा और लम्बा करना ही प्राण मात्र का अभ्यास है। उदाहरण—मान लीजिये बायें नासिका-रन्ध्र से धीरे-धीरे दो सेकेण्ड तक वायु भीतर खींचना, फिर दोनों नासिका-रन्ध्रों को बन्द करके शरीर को निश्चेष्ट और ध्यान को केन्द्रित करके श्वास को ७ सेकेण्ड के लिये रोक देना और तब बहुत धीरे-धीरे वायु को दूसरे (दायें) नासिका-रन्ध्र से ४ सेकेण्ड में बाहर निकाल देना। इसके पश्चात् हमें पूरी प्रक्रिया को पूर्व विधि के विपरीत ढंग से करना चाहिये। ठीक उसी प्रकार से दूसरे नासिका-रन्ध्र से (मान लीजिये दाहिने) श्वास खींचना चाहिये और उसी प्रकार अधिक समय तक भीतर रोक रखना चाहिये। फिर दूसरे रन्ध्र से पूर्ववत् धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिये। इन 'पूरक' 'रेचक' और 'कुम्भक' क्रियाओं का स्वेच्छा से एक निश्चित अवधि तक एक निश्चित समय में और एक निश्चित आसन में सचेष्ट होकर लगातार अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास के समय शरीर, इन्द्रिय या मन सम्बन्धी किसी प्रकार की बेचैनी नहीं होनी चाहिये।

ज्यों-ज्यों अभ्यास से, बिना किसी प्रयत्न या श्रम के, श्वास पर नियन्त्रण की शक्ति बढ़ती है और श्वास-प्रणाली क्रमशः शुद्ध होती जाती है, अधिक से अधिक लम्बा, गहरा श्वास लेने का अभ्यास करना चाहिये। 'पूरक' के लिए अधिक समय लेना चाहिये

और उसी क्रम से 'कुम्भक' और 'रेचक' के लिए भी अधिक समय लगाना चाहिये। इस क्रिया की अनेक विधियाँ निर्धारित हैं। उपर्युक्त प्रणाली में 'पूरक' के बाद 'कुम्भक' और तब 'रेचक' का अभ्यास किया जाता है। इसे 'अन्तः कुम्भक' कहते हैं (श्वास को भीतर रोक रखना)। इसके विपरीत प्रणाली में 'रेचक' के बाद 'कुम्भक' और पश्चात् 'पूरक' का अभ्यास किया जाता है अर्थात् भीतर से पूरा वायु निकाल देने के पश्चात् श्वास-वायु को बाहर ही रोक रखते हैं। इसे 'बहिः कुम्भक' कहते हैं। कभी-कभी बिना 'पूरक' और 'रेचक' के केवल 'कुम्भक' का अभ्यास किया जाता है। योग-साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ा हुआ योगी अपनी श्वास-क्रिया को बिना किसी प्रयत्न के पर्याप्त समय तक रोके रख सकता है। इस प्रकार के अभ्यासों से योगी साधक अपने शरीर के सभी प्राण-तत्त्वों पर अभूतपूर्व नियन्त्रण स्थापित कर सकता है और शारीरिक क्रिया-प्रणाली में पूर्ण परिवर्तन ला सकता है। पर्याप्त अवधि तक योग्य गुरु के निर्देश के अनुसार प्राणायाम का क्रमिक अभ्यास करने से अनेक रहस्यमय शक्तियों को जाग्रत किया जा सकता है।

प्राणायाम के अभ्यास को 'पवन अभ्यास' भी कहते है अर्थात् प्राणवायु को नियन्त्रित करने का अभ्यास। श्वास-व्यायाम की निर्धारित विधि के अनुसार प्राण-तत्त्वों के नियमन और सामञ्जस्य-स्थापन में प्रवीणता प्राप्त करना ही 'पवन-विजय' है अर्थात् वायु पर विजय। प्राण-शक्ति को प्राणवायु कहते हैं जो शरीर के सभी अंग-उपाङ्गों में व्याप्त है और उन्हें पोषित तथा उत्तेजित करती है, उन्हें क्रियाशील रखती है और उनकी विभिन्न प्रक्रियाओं में सामञ्जस्य ले आती है। साधारण जीवन-क्रम में यह प्राण-शक्ति स्वेच्छा से प्रकृति की अनुचरी होकर कार्य करती है, शरीर-रचना के एक गतिशील तत्त्व के रूप में। एक नैतिक और आध्यात्मिक

प्राणी होने के नाते मनुष्य की उच्चतर प्रकृति में निम्नतर प्रकृति की शक्ति को जीतने की एक आन्तरिक शक्ति छिपी होती है। यह नीच प्रकृति से प्राण-शक्ति को मुक्ति दिलाती है तथा उसे मानव-जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों में प्रवृत्त विवेकपूर्ण भावना के नियन्त्रण के अन्तर्गत ले आती है और अन्ततः उसे सम्पूर्ण शारीरिक प्रक्रिया पर आधिपत्य स्थापित करने तथा उसमें निर्विघ्न एवं आनन्द-पूर्ण शान्ति स्थापित करने वाले एक शक्तिशाली साधन के रूप में प्रयुक्त करती है। वह व्यक्ति जो प्राण-शक्ति पर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने और इस शक्ति के उचित प्रयोग से सम्पूर्ण शारीरिक क्रिया को शुद्ध एवं पुनर्नियमित करने में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है, यह कहा जाता है कि वह भौतिक मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है और पूर्ण स्वच्छन्दता और आनन्द के साथ इस भौतिक जगत में जब तक चाहता है, विचरण कर सकता है। सत्य कहा जाय तो 'पवन-विजय' आत्मा (चेतना) की पदार्थ पर गौरवमयी विजय है और इस भौतिक जीवन में वास्तविक स्वतन्त्रता की व्यावहारिक अनुभूति है।

इस लक्ष्य-सिद्धि का साधन सुयोग्य गुरु की छाया में प्राणायाम का भली भाँति अभ्यास करना है। योगशास्त्र में प्राणायाम की अनेक विधियों का निर्देश है। 'हठयोग-प्रदीपिका' में आठ प्रकार के 'कुम्भक' का विवरण दिया गया है; उदाहरणार्थ—सूर्य-भेदन, उज्जयी, सित्कारी, सिताली, भास्तका, भ्रमरी, मूर्च्छा और प्लावनी। इस पुस्तक में तथा योग-शास्त्र की अन्य पुस्तकों में इनमें से प्रत्येक क्रिया के आश्चर्यजनक प्रभावों का उल्लेख किया गया है। इस प्रारम्भिक एवं परिचात्मक रचना में 'कुम्भक' की अनेक जटिल पद्धतियों के विवरण देने का प्रयत्न व्यर्थ है। प्रामाणिक कृतियों में भी इनके अभ्यास की विधियों का सामान्य निर्देश करते समय

पाठकों को बिना ज्ञानी गुरु के निर्देशन के इनके अभ्यास के प्रयत्न करने से भी सावधान कर दिया गया है। ये प्रक्रियायें मनस्तत्त्व एवं शरीर-रचना-तत्त्व के गहन निरीक्षण और मानव,जीवन की आदर्श भावना पर आवृत हैं। कोई भी व्यक्ति इस गहन अन्तर्दृष्टि तथा प्रक्रियाओं का प्रत्येक चरण की व्यक्तिगत अनुभूति के बिना किसी भी शिष्य को कुशलतापूर्वक वास्तविक अभ्यास नहीं करा सकता।

जब कोई शिष्य चुने हुए आसनों और प्राणायाम-विधियों के अभ्यास में सन्तोषजनक प्रगति कर लेता है तब वह उसी क्षेत्र में योग-साधना की उच्चतर विधियों के अभ्यास में दीक्षित कर लिया जाता है ताकि वह अपनी अन्तःप्रकृति की गहनतर सम्भावनाओं की उपलब्धि कर सके। जिस सरलता, सुगमता और प्रसन्नता के साथ प्रत्यक्षतः जटिल प्रक्रियाओं के अभ्यास में पूर्णता प्राप्त की जाती है उसीसे साधक की प्रगति का अनुमान कर लिया जाता है। सरलता, सुगमता तथा प्रसन्नता से प्रकट हो जाता है कि शरीर-रचनातत्त्व पर्याप्त मात्रा में पवित्र और परिवर्तित हो गये हैं; मार्ग के प्राकृतिक अवरोध समाप्त कर दिये गये हैं; प्राण-वायु की अधोमुखी एवं बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ, मानसिक शक्तियाँ तथा मनस्तत्त्व एवं शरीर-रचनातत्त्व के अन्तर्गत निहित अन्य अवरोधक शक्तियाँ इच्छाशक्ति द्वारा पर्याप्त मात्रा में विजित एवं नत कर दी गयी हैं और प्राण-शक्ति तथा मानसिक शक्ति को नियन्त्रित तथा एकनिष्ठ करने की शक्ति विकसित हो गयी है। जब किसी 'आसन' या 'कुम्भक' के अभ्यास में सिद्धि प्राप्त हो जाती है तो प्रारम्भ में साधना की स्थिति कितनी भी दुस्सह क्यों न हो, सिद्धि-लाभ के उपरान्त यह उतनी ही सरल और सुगम हो जाती है जितनी कि

शारीरिक अवयवों की स्वाभाविक स्थिति या स्वाभाविक श्वास-प्रकिया। इस स्थिति में जो आन्तरिक आनन्द की अनुभूति होती है वह सम्पूर्ण शरीर-रचना पर बिना किसी प्रयत्न के शासन करने वाली प्राणशक्ति और मानसिक शक्ति की शान्तिपूर्ण एकनिष्ठ स्थिति तथा शरीर-प्रक्रिया की आन्तरिक सामञ्जस्यमयी स्थिति का सहज परिणाम है।

'आसन' और 'प्राणायाम' के अभ्यास के बाद 'महामुद्रा' की साधना की जाती है। मुद्रा की कुछ विधियों का अभ्यास 'आसन' और 'प्राणायाम' के साथ इनके अविच्छिन्न अंग के रूप में करना पड़ता है। 'मुद्रा' की उच्चतर और अपेक्षाकृत कठिन विधियाँ (बन्ध और वेध के साथ) उच्चतर उपलब्धियों के लिए निर्धारित हैं। 'हठयोग' की पुस्तकों में 'मुद्रा' की इस प्रकार की उच्चतर विधियों में विशेषत: १० का उल्लेख मिलता है। वे निम्नलिखित हैं—'महामुद्रा' 'महाबन्ध' 'महावेध' 'खेचरी' 'उड्डान' 'मूलबन्ध' 'जालन्धरबन्ध' 'विपरीत करनी' 'बज्रोली, (सहजोली और अमरोली के साथ) और 'शक्तिचालन'। इन प्रक्रियाओं की कोरी सैद्धान्तिक व्याख्या करना व्यर्थ है। इनमें से प्रत्येक पूर्णत: व्यवहार की वस्तु है। इन्हें योग्य गुरु के प्रत्यक्ष निर्देशन में उचित अभ्यास के द्वारा ही समझा जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक जिज्ञासु इनमें से प्रत्येक का अभ्यास करे। इनमें से किसी एक के अभ्यास की सफलता भी आश्चर्यजनक अनुभूतियों का साक्षात् करा सकती है। ये सूक्ष्म प्रक्रियाएँ हैं जिनके अभ्यास से प्रत्येक व्यक्ति की मनोभौतिक प्रकृति के अन्तराल में सुप्त आध्यात्मिक शक्ति को जाग्रत किया जा सकता है, क्रियाशील बनाया जा सकता है और क्रमश: व्युत्पन्न किया जा सकता है। केन्द्रित मनोप्राण-

शक्ति को सभी दिशाओं से समेट कर अन्तरतम प्रदेश की नाड़ी सुषुम्ना के माध्यम से उच्चतर भूमियों की ओर उन्मुख किया जा सकता है जब तक कि उच्चतम आध्यात्मिक भूमि में अनुभूत होने वाली शिव और शक्ति की आनन्दमयी एकता की अनुभूति न हो जाय।

—

अनेक व्यक्ति हृदय से योगाभ्यास के इच्छुक होने पर भी आसन प्राणायाम, मुद्रा इत्यादि के अभ्यास में शीघ्र प्रगति नहीं कर पाते क्योंकि उनके शारीरिक निर्माण में किसी न किसी प्रकार का दोष रहता है जैसे फेफड़ों की बीमारी, हृदय-रोग, यकृत, प्लीहा, उदर-रोग, आँत का रोग या अन्य किसी अवयव में दोष या शरीर का अत्यधिक मोटा होना या इसी प्रकार का कोई अन्य शारीरिक दोष । 'हठयोग' के शिक्षक उन्हें इन रोगों के दूर करने के कुछ उपाय बताते हैं जिनके अभ्यास से वे इन रोगों और बाधाओं से छुटकारा पा सकते हैं। इन्हें षट्कर्म या षट्क्रिया कहते हैं। सामान्यतः निर्दिष्ट ये छः क्रियाएँ निम्नलिखित हैं—धौति वास्ति, नेति, त्राटक, नौलिका और कपाल-भाति। इन्हें घट-शोधन-प्रक्रिया कहते हैं अर्थात् शरीर की शुद्धि के लिए तथा शरीरान्तर्गत उन तत्त्वों और शक्तियों की वृद्धि के लिए किये गये उपाय जो प्राणायाम, मुद्रा इत्यादि सूक्ष्म क्रियाओं के अभ्यास में सफलता-प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। वह व्यक्ति भी, जो उच्चकोटि की यौगिक क्रियाओं का जिज्ञासु नहीं है, सुयोग्य निर्देशन में इन योग साधना की क्रियाओं का क्रमिक अभ्यास करने से अनेक शारीरिक रोगों से मुक्ति-लाभ कर सकता है। इस परिचयात्मक कृति में इन विधियों की ऐसी व्याख्या का प्रयत्न नहीं किया जायेगा जो पाठकों के लिए व्यावहारिक दृष्टि से उपादेय हो सके। अधिक जिज्ञासु

सुयोग्य गुरु की सेवा में जाकर उचित शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इस छोटी सी पुस्तिका की सिमाओं में इन प्रक्रियाओं का उल्लेख मात्र ही किया जा सकता है।



१६—'प्रत्याहार', 'धारणा', 'ध्यान' और 'समाधि'

'हठयोग' योगी गुरुओं के द्वारा 'गुप्तविद्या' माना जाता है। यह योग्य शिष्यों के लिए ही सुरक्षित है, वह भी सुयोग्य गुरुओं के प्रत्यक्ष निर्देशन में ही इसके अभ्यास की व्यवस्था दी गयी है। शारीरिक अवयवों, प्राण-शक्तियों, इन्द्रियों की आसक्तियों, मानसिक प्रवृत्तियों, बौद्धिक शंकाओं और जिज्ञासाओं पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर लेने पर आध्यात्मिक साधक उच्चतर आध्यात्मिक आदर्शों पर गहनतर एकाग्रता का अभ्यास कर सकता है ताकि वह अपनी चेतना, शक्ति और सत्ता को पूर्ण ज्योतिर्मय कर सके। 'प्रत्याहार', 'धारणा', 'ध्यान' और 'समाधि' एकाग्रता की प्रगतिशील स्थितियाँ हैं और इन्हें राजयोग की प्रमुख प्रक्रियाएँ माना जाता है जिनका प्रत्येक हठयोगी सरलता सुगमता और प्रसन्नता के साथ अपने आध्यात्मिक विकास की उच्चतर स्थिति में अभ्यास करता है।

प्रत्याहार सभी प्रकार के विचलित कर देनेवाले तथा ध्यान की एकाग्रता में बाधक पदार्थों से ध्यान को विरत करने की प्रक्रिया है,

चाहे ये पदार्थ बाह्य हों या आन्तरिक, स्थूल हों या सूक्ष्म, चाहे वे इन्द्रियगोचर हों या मानसिक चिन्तन या कल्पना या इच्छा-भावना सम्बन्धी। इनमें यौगिक दृष्टियाँ और शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं। इसके लिए दृढ़ निश्चय की दुर्जेय शक्ति चाहिये, सामान्य प्रकृति से संघर्ष करने की भावना चाहिये और चाहिये अथक धैर्य और प्रयत्न-क्षमता। जो हठयोग की साधना के माध्यम से अपना विकास करता है उसके लिए यह साधना अपेक्षाकृत अधिक सरल हो जाती है।

'प्रत्याहार' की साधना के लिए सतत् प्रयत्न के साथ 'धारणा' का अभ्यास भी करना चाहिये जो कि एक निश्चित वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने की निश्चित प्रक्रिया है। यह वस्तु कुछ भी हो सकती है—कोई मनोनीत मन्त्र या ध्वनि या प्रतीक या मानसिक धारणा या शून्य या शान्ति या चेतना की पूर्ण शान्त स्थिति या परम तत्त्व की अवधारित कल्पना। प्रत्याहार और धारणा की साधना में विकास के साथ धारणा के लिए चुनी हुई वस्तु क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, अधिक संस्कृत एवं आध्यात्मिक होनी चाहिये और प्रत्याहार के लिए आवश्यक सचेष्ट प्रयत्न में कमी होती जानी चाहिये। जब प्रत्याहार की साधना सरल और प्रायः स्वयंसाध्य हो जाती है और धारणा की साधना संस्कृत और नियमित हो जाती है, जब चेतना सभी प्रकार की उद्वेलित कर देने वाली प्रवृत्तियों से प्रायः मुक्त हो जाती है तब धारणा ध्यान की स्थिति में विकसित हो जाती है। जैसे-जैसे ध्यान की क्षमता में वृद्धि होती जाती है, साधक को सभी प्रकार की साम्प्रदायिक भावनाओं या पूर्वग्रहों से तथा परमसत्य के विषय में सभी प्रकार की पूर्व अवधारित मान्यताओं से अपने मन को मुक्त कर लेने के लिए विशेष रूप से सचेष्ट हो जाना चाहिये। पूर्व योगाभ्यास के परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण चेतना

के शुद्ध, स्थिर और विमल हो जाने पर इसे अपने को दिव्य प्रकाश से प्रकाशित होकर स्वयं प्रकाशित सत्य के रूप में प्रकट करना चाहिये।

ज्यों-ज्यों योगी साधक शुद्ध, दृढ़, असम्पृक्त और पूर्वग्रहरहित मन के साथ गहन से गहनतर ध्यान में मग्न होता जाता है, चेतना के अन्तरतम प्रकोष्ठों के द्वार जो सामान्य मस्तिष्क के लिए अगम्य रहते हैं, उसके लिए खुल जाते हैं, वह मानव-चेतनाके अन्तरतम प्रदेशों में छिपे हुए आध्यात्मिक रहस्यों को प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान से अनुभूत कर लेता है। उसकी मन और प्राण-शक्ति अब एकनिष्ठ, संयुक्त और दृढ़ता पूर्वक अन्तरोन्मुख होने के कारण क्रमशः उत्तरोत्तर परमात्मतत्त्व से अभिभूत और ज्योतिमण्डित हो जाती है। इस विकास की स्थिति में उसकी व्यक्तिगत चेतना पूर्ण प्रकाशित ऊर्ध्वचेतन स्थिति तक उठ जाती है जिसमें वैयक्तिकता की सभी सीमाएँ अतिक्रमित हो जाती हैं, जहाँ व्यक्ति और विश्व का, अहं और इदम् का, आत्म और पर का विरोध शमित हो जाता है। उसका मस्तिष्क लोकोत्तर मस्तिष्क और उसकी शक्ति लोकोत्तर शक्ति हो जाती है। यह स्थिति 'समाधि-स्थिति' कहलाती है जो गहन ध्यानावस्था की पूर्णता है। गोरखनाथ-सम्प्रदाय के योगी इस स्थिति को 'शिव' और 'शक्ति', निरपेक्ष आत्मा और सापेक्ष शक्ति की आनन्दमयी एकता के रूप में स्वीकार करते हैं। योगी की चेतना इस आनन्दमयी स्थिति तक उस समय पहुँचती है जब वह रहस्यमयी योग साधना के आन्तरिक अभ्यास के द्वारा सभी प्रकार के कलुषों, अस्थिरताओं, दुर्बलताओं,सीमाओं, सभी प्रकार की सांसारिक शक्तियों के प्रभावों और सांसारिक सुखों के आकर्षणों से मुक्त हो जाती है और जब वह अपनी अन्तःप्रकृति की उच्चतम आध्यात्मिक सम्भावना का पूर्णतः अनुभव कर लेती है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि योग-दृष्टि के अनुसार 'समाधि' शुद्ध निश्चेष्ट स्थिति नहीं है; यह चेतना, क्रिया या शक्ति की भी अभावात्मक स्थिति नहीं है; यह क्षणिक मृत्यु, सुसुप्ति या मूर्च्छा के सदृश भी कोई स्थिति नहीं है जैसा कि यह बाहर से प्रतीत होती है या कुछ सामान्य विचारकों द्वारा समझी जाती है। समाधि निश्चित रूप से चेतना की क्षोभरहित, शान्तिपूर्ण स्थिति है जिसमें वातावरण में किसी प्रकार का आन्तरिक परिवर्तन या क्षोभ नहीं होता; जिसमें किसी प्रकार का अनुभव, ज्ञान, भावना या इच्छा नहीं होती, जिसमें चेतन-जड़ पदार्थ के सम्बन्ध की कोई भावना नहीं होती। यह होने पर भी यह गति, प्रकाश और आनन्द की चरमस्थिति है। यह पूर्ण क्रियाशीलता तथा साथ ही साथ पूर्ण निश्चेष्ठता की स्थिति है। यह पूर्ण आनन्द की साथ ही साथ पूर्ण भावनारहित स्थिति है; यह पूर्णज्ञान तथा साथ ही साथ ज्ञान की किसी भी प्रक्रिया से रहित स्थिति है। यह वह स्थिति है जिसमें योगी इसी मर्त्य शरीर में अमरत्व के आनन्द का भोग करता है, जिसमें वह इसी सीमित और परिवर्तनशील शरीर से असीमता और शाश्वतता का अनुभव करता है और समय तथा स्थान की सीमाओं से निरपेक्ष हो जाता है। वह अपनी चेतना की अतल गहराई में 'शिव' तत्त्व के साथ एकत्व की अनुभूति का आनन्द-भोग करता है।

सामान्यतः आध्यात्मिक जिज्ञासु के लि समाधि की स्थिति की अनुभूति उच्चतम आकांक्षित वस्तु है। किन्तु योगसाधना के महान् शिक्षक इस विषय में सतर्क रहने की बात भी कहते हैं। जब समाधि शब्द पूर्ण आध्यात्मिक चेतना [प्रकाश] के अर्थ में प्रयुक्त होता है तब उपर्युक्त विचार पूर्णतः ठीक माना जा सकता है। लेकिन यह शब्द सामान्यतः जीवन की

साधारण स्थितियों और भौतिक चेतना सम्बन्धी प्रक्रियाओं के अस्थायी दमन के अर्थ में प्रयुक्त होता है, सभी ज्ञात इच्छाओं और उत्तेजनाओं, विचार और भावनाओं, मानसिक उद्वेग और स्मृतियों कल्पनाओं तथा स्वप्न-सुसुप्ति की स्थितियों का अस्थायी दमन भी सामान्य अर्थों में समाधि के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार के दमन की स्थिति का तात्पर्य निश्चित रूप से आध्यात्मिक चेतना या सत्य की अनुभूति या शिवत्व की उपलब्धि नहीं होता। चाहे मन और शरीर शुद्ध न हुए हों और चेतना में आध्यात्मिक प्रकाश न भी आया हो तो भी दृढ़ निश्चय के साथ कुछ समय तक मानसिक और शारीरिक अनुशासन की कुछ उपयुक्त विधियों का अभ्यास करने से इस प्रकार की समाधि की स्थिति औपचारिक ढंग से भी प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार की समाधि की स्थिति में मन की सांसारिक दुर्वृत्तियाँ कुछ समय के लिए मन के अर्द्धचेतन स्तर में जाकर भले ही निष्क्रिय हो जाँयें, सांसारिक शक्तियाँ भी भले ही उन्हें इस बीच उत्तेजित न करें, किन्तु ये दुर्वृत्तियाँ तथा कथित समाधि की स्थिति के व्यतीत हो जाने पर अपनी पूर्ण शक्ति के साथ पुनः प्रकट हो जाती हैं। इस प्रकार की समाधि आध्यात्मिक महत्त्व नहीं रखती। कुछ परिस्थितियों में इस प्रकार की दमन की स्थिति कभी-कभी मानसिक विक्षिप्तता में भी प्रकट हो जाती है। इस प्रकार की प्रवंचनापूर्ण 'समाधि' से वास्तविक 'समाधि' की विशिष्टता को सतर्कतापूर्वक जान लेना चाहिये। योग-साधना की सम्पूर्ण प्रक्रिया आध्यात्मिक प्रकाश (चेतना) की वास्तविक स्थिति प्राप्त करनें के लिए निर्धारित है।

इसके अतिरिक्त एकबार, दो बार या अनेक बार समाधि की वास्तविक स्थिति की अनुभूति भी आध्यात्मिक आत्मपूर्णता के लिए पर्याप्त नहीं है। इसका अभ्यास सतत् रूप से एक लम्बी अवधि तक

होना चाहिए, जबतक कि मन और इन्द्रियों की सामान्य स्थिति में भी 'आत्म' और 'विश्व' के प्रति साधक के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन न हो जाय, जब तक कि ध्यान की गहन स्थिति में परमतत्त्व के प्रकाश से प्रकाशित और आध्यात्मोन्मुख चेतना इतनी शक्तियुक्त न हो जाय कि योगी साधक के मानसिक और भौतिक मूर्तरूप के सभी स्तरों को प्रकाशमान् और आध्यात्मोन्मुख न बना दे। जब तक योगी साधक की अनुभवगत चेतना के बौद्धिक, मानसिक, प्राणतत्त्वात्मक और भौतिक स्तर 'समाधिजा प्रज्ञा' के द्वारा प्रकाशमान नहीं हो जाते तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उसने आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर ली है। योगियों का यह भी कथन है कि 'समाधि' या चेतना की शान्त, निश्चल प्रकाशमान स्थिति जो स्थान, समय-सापेक्षिता और व्यक्तित्व की सीमाओं से परे हैं, गतिहीन या निश्चेष्ट नहीं हैं। निम्नस्तर से देखे जाने पर यह विपरीत स्थिति में देखी जाती है और इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इसके आगे उच्चतर विकास का क्षेत्र नहीं है। किन्तु वास्तव में शुद्ध चेतना की पूर्ण निरपेक्ष प्रतीत होने वाली स्थिति में भी सत्यानुभूति एवं सत्यानन्द की अनेक स्थितियाँ हैं। 'समाधि' की उत्तरोत्तर उच्चतर स्थितियाँ हैं, ऊर्ध्व चेतना की अधिक से अधिक ज्योतिर्मय एवं मधुर प्रकाशमान स्थितियाँ हैं जो 'शिवत्व' के निकटतर पहुँचा देती हैं।

*

योग-साधना का दार्शनिक आधार

गुरु गोरखनाथ तथा उनके प्रबुद्ध अनुयायी किसी निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना के लिए अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय के शिक्षकों से तर्क के आधार पर प्रायः किसी प्रकार के विवादास्पद विषय में नही पड़ना चाहते। इसी कारण इस सम्प्रदाय के प्रख्यात लेखकों के प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रन्थों में भी सापेक्षिक दृष्टि से दार्शनिक साहित्य की कमी है। महायोगी अपनी शिक्षा और जीवन-क्रम दोनों में पूर्णतः व्यावहारिक होते थे। वे मुख्यतः आध्यात्मिक अनुभूतियों की उपलब्धि में रत रहते थे। सैद्धान्तिक सम्भावनाओं और तार्किक प्रतिवादों में उनका तनिक भी विश्वास नहीं था। किन्तु यह होने पर भी सम्पूर्ण योग-साधना के मूल में उनके दार्शनिक आधार विद्यमान थे जिनकी वे शिक्षा देते थे और अभ्यास करते थे। एक पूर्ववर्ती अध्याय में उनकी दार्शनिक दृष्टि की एक झलक दी गयी है।

स्वयं गोरखनाथ तथा अन्य नाथ-योगी शिक्षकों के अनुसार 'परासम्बित' ही परम तत्त्व है, जो 'शिव' या 'ब्रह्म' या 'परमात्मा' तथा दूसरे सम्प्रदायों के द्वारा अन्य नामों से भी अभिहित किया जाता है। 'परमतत्त्व' सभी रूपों और नामों, समय और स्थान, कारणत्व और सापेक्षिकत्व तथा बौद्धिक धारणा एवं मानसिक कल्पना की सीमा में आने वाले तत्त्वों से भी परे है। किन्तु वह आत्मप्रकाशित, आत्माभिव्यक्त और आत्मानन्द है। वह योगी के

द्वारा आध्यात्मिक चेतनाकी उच्चतम स्थिति में बिना 'किसी बौद्धिक प्रक्रिया के प्रत्यक्षतः अनुभवगम्य है। योगी उसे अनुभूत कर सकता है क्योंकि वह (और वस्तुतः प्रत्येक चेतन प्राणी) अपनी आत्मा के अन्तरतम प्रदेश में उससे (परमतत्त्व से) अभिन्न है। उसकी अनुभूति से तात्पर्य है योगी द्वारा स्वयं अपनी ही असीम, शाश्वत, स्वय प्रकाशित एवं स्वयं आनन्दित 'आत्मा' की प्रत्यक्ष, आवरण रहित, अनावरोधित, विघिरहित अनुभूति। इस अपनी ही वास्तविक अन्तरात्मा को वह सम्पूर्ण विश्व की आत्मा के रूप में देखता है। नानात्व और सापेक्षकत्व के क्षेत्र, समय तथा स्थान के आवरण एवं शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण करके योगी की चेतना परमतत्त्व शिव, ब्रह्म या परमात्मा से आनन्द पूर्वक मिलकर पूर्णतः प्रकाशित हो जाती है।

परमात्मतत्त्व शाश्वत रूप से एक निरपेक्ष और एक गतिशील स्थिति रखता है। योगी लोग इन दोनों स्थितियों को वास्तविक स्वीकार करते हैं। इनमें से किसी एक स्थिति के भी मिथ्यात्व-प्रतिपादन के लिए वे कोई विस्तृत तर्कपूर्ण प्रयत्न नहीं करते। अपनी निरपेक्ष स्थिति में वह शिव के रूप में कहा और माना जाता है तथा अपनी गतिशील स्थितियों में वह शक्ति रूप में पूजित होता है। यह दोनों स्थितियाँ वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। एक दूसरे में अन्तरस्थ है। "शिवस्य अभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः" प्रत्येक दूसरे से शाश्वत रूप से आलिंगत है। परमतत्त्व 'सत्ता' रूप में द्वैतात्मक और सापेक्षिक स्थिति से ऊपर तथा स्थान और समय की सीमाओं से परे 'शिव' है और स्वरूपात्मक स्थिति में इस द्वैतात्मक सापेक्षिक जगत् में समय और स्थान की सीमाओं में बंधकर अभिव्यक्त रूप में 'शक्ति' है। परमतत्व की पूर्ण आत्म

चैतन्यात्मक स्थिति में दोनों में वास्तविक रूप से कोई भेद नहीं है। वह शाश्वत रूप से एक आत्मस्थित, आत्म चैतन्य, आत्मपूर्ण एवं आत्मानन्द तत्त्व है।

परमतत्त्व का गत्यात्मक रूप अनादि और अनन्त विश्व-व्यवस्था में, जिसमें अगणित जीवन नाना प्रकार के कार्यों में रत हैं, बड़ी ही सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। अपनी अनिवार्य गत्यात्मक स्थिति के कारण वह अपने को जगत् सतत परिवर्तनशील, सतत गतिमान, नित्य नूतन होने वाले विश्वप्रपंच के नाना जीवों की असंख्य कोटियों के रूप में प्रगट करता है। विरोधात्मक, सापेक्षिक, ऐहिक एवं सीमित रूपों में आत्माभिव्यक्ति की इस अनन्य प्रक्रिया में उसे इच्छा या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, उसके आनन्दमय, शान्त, निरपेक्ष, आत्मचैतन्य स्वरूप में किसी प्रकार की विकृति नहीं होती क्योंकि उसका स्वभाव ही पूर्णतः शाश्वत रूप से गत्यात्मक है और ऐसी कोई अवरोधात्मक शक्ति नहीं है जिसके साथ आत्माभिव्यक्ति की क्रिया में उसे संघर्ष करना पड़े या जिसपर विजय प्राप्त करनी पड़े। उसकी शाश्वत असीम शक्ति के स्वेच्छा से आत्म अभिव्यक्त होने में उसके निरपेक्ष आत्मप्रकाशित आत्मानन्दित स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। इस प्रकार परमतत्त्व नित्य शिव और नित्य शक्ति है, नित्य 'निर्गुण' (निष्क्रिय) और नित्य सगुण (सक्रिय) है, नित्य अद्वैत और नित्य द्वैत है, नित्य समय स्थान और सापेक्षिता के संसार की सीमाओं और परिवर्तनों से अप्रभावित है तथा नित्य नानातत्त्वमय सतत् परिवर्तनशील संसार में आत्माभिव्यक्ति करता है। गोरखनाथ जी तथा उनके सम्प्रदाय की दार्शनिक पद्धति को 'द्वैताद्वैत विवर्जित' या 'पक्षापक्षविनिर्मुक्त' कहते हैं।

सांसारिक क्रम के रूप में अभिव्यक्त शक्ति-तत्त्व के स्वरूप को 'परिणाम' कहते हैं अर्थात् वह आत्मरूपान्तरित है जो कारणत्व, परिवर्तन, उद्भव, निरन्तरता और ध्वंस उत्पन्न करती है। योगी शिक्षक सामान्यतः शक्ति-तत्त्व की व्याख्या 'विकास' और 'संकोच' 'विस्तार' और 'संक्षेप' 'नानात्व' और 'एकत्व' के रूप में करते हैं। सम्पूर्ण विश्व-क्रम एकत्व से नानात्व में अनन्त विकास-प्रक्रिया तथा पुनः 'नानात्व की एकत्व में संकोचन प्रक्रिया है।

सृष्टि-प्रक्रिया के आधार पर 'कारण'रूप में विद्यमान तत्त्व 'कार्य' रूप में परिवर्तित हो जाता है और पुनः जो कार्य-तत्त्व है वह ध्वंस-प्रक्रिया के आधार पर क्रमशः मूल कारण रूप में बदल जाता है। यह 'एकत्व' का 'नानात्व' में और 'नानात्व' का 'एकत्व' में परिवर्त्तन शक्ति की लीला है।

सिद्ध योगी सम्प्रदाय का सबसे अधिक प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' है। ग्रन्थ के रचयिता स्वयं गुरु गोरखनाथ जी कहे जाते हैं यद्यपि इसमें सन्देह के लिए भी स्थान है। इसमें शक्ति तत्त्व की क्रमिक अभिव्यक्ति का बड़ा ही रोचक उल्लेख है। शिव एक मात्र निरपेक्ष तत्त्व है (उसकी शक्ति उससे पूर्णतः अभिन्न है) सिद्ध सिद्धान्त पद्धति इसी मान्यता से प्रारम्भ करती है। जब सृष्टि नहीं है, क्रिया और कर्ता नहीं है, कारण और कार्य नहीं है, जब एकत्व से नानात्व या नानात्व से एकत्व की प्रक्रिया नहीं है, 'जब परमतत्त्व, अपने निरपेक्ष एवं आनन्दमय रूप में स्थित है, तब वह एक अनाम स्वयंज्योति सत् मात्र है। इस स्थिति में ऐसा कोई लक्षण नहीं है जो सत् और असत् में पार्थक्य कर सके (अतएव यह आश्चर्य नहीं है कि यह परमतत्त्व प्रायः शून्य या असत् रूप में समझा जाता है।) यह स्थिति समय से परे होने के कारण परमात्मा

'शिव' के निरपेक्ष स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है और समय की सीमाओं को दृष्टि में रखकर विचार करने से यह 'महाप्रलय' की स्थिति कही जा सकती है। वह (शिव) स्वयं अपने में अपनी शक्ति को (निजा शक्ति) लीन रखता है, जो 'इच्छामात्र धर्मा है और धर्मी (शिव) से पूर्णतः अभिन्न है। इस प्रकार इस सृष्टि-रचना-पूर्व की स्थिति में 'शक्ति' अर्थात् 'शिव' का गत्यात्मक रूप अभिव्यक्ति या प्रकाशन की तनिक भी इच्छा न होने के कारण परमात्मा के स्वयं ज्योतिर्मय रूप से किसी प्रकार भी अलग नहीं है।

इसके बाद अनभिव्यक्त शक्ति तत्त्व के अन्तर्गत 'उन्मुखत्व' की भावना (अभिव्यक्ति की सूक्ष्म इच्छा) जाग्रत हुई है। शिव का शुद्ध संकल्प-भावना अपनी असीम रचनाशक्ति की आन्तरिक प्रेरणा से विशिष्ट हुई। इस स्थिति में 'शक्ति' 'परा शक्ति' कहलाती है (तस्योन्मुखत्व मात्रेण पराशक्तिरुत्थिता)। यहाँ अविकृत स्वयं ज्योतिर्मय परमतत्त्व और उसकी शक्ति में किसी प्रकार का भेद न होने से और 'केवल कुछ विशिष्टता' मात्र होने से शक्ति, शिव के रूप में नहीं वरन् 'शिव' में स्थित होती है। शक्तिर तत्त्व का अन्तर-इच्छा के रूप में जाग्रत होना उसे शिव के निरपेक्ष तटस्थ द्रष्टा के स्वरूप से विशिष्ट बनाकर पृथक् कर देता है। किन्तु इस स्थिति में भी शक्ति में किसी प्रकार का स्पन्दन या क्रियाशीलता नहीं होती।

विकास की तीसरी स्थिति में सृष्टि-कर्तृत्वेच्छा में कुछ आन्तरिक स्पंदन जाग्रत होता है। इस स्थितिमें शक्ति-तत्त्व में कुछ आन्तरिक गत्यात्मकता आ जाती है, बाह्यतः उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इस स्थिति में इसे 'अपरा शक्ति' (निम्नतर शक्ति) कहते हैं। इस स्थिति में वह अपने निरपेक्ष तत्त्व शिव से अधिक स्पष्ट रूप में विशिष्ट बन जाती है यद्यपि अब भी उससे पृथक् होने की

स्थिति में नहीं होती। अब उनका गत्यात्मक रूप अपने असीम स्वरूप को नाना रूपों में व्यक्त करने के उत्साह और सांसारिक विधान के रूप में प्रकट करने की भावना में अभिव्यक्त होता है। उसकी यह स्थिति भी समय और स्थान की सीमा से परे तथा दिव्य आध्मात्मिक सत्ता से ही युक्त रहती है।

विकास की चौथी स्थिति में इस सूक्ष्म क्रियाशील—इच्छा—में 'अहं' की चेतना जाग्रत होती है। यह 'आत्मचेतनात्मक' शक्ति 'शूक्ष्म शक्ति' कहलाती है। शिव-तत्त्व यद्यपि अपने निरपेक्ष रूप में सदैव आत्मज्योतिर्मय रहता है, अपनी शक्ति के आत्मपरिवर्तन से तनिक भी प्रभावित नहीं होता; किन्तु 'शक्ति तत्त्व' के क्रमिक-विकास की विभिन्न स्थितियों में, अपनी गत्यात्मक स्थिति में, नव्यतर विशिष्टताओं से युक्त होता हुआ प्रतीत होता है। अभी तक शिव शुद्ध दिव्य आत्म-तत्त्व था; किन्तु जब शक्ति तत्त्व में अहं की चेतना जाग्रत होती है तब वह व्यक्तिगत देवता हो जाता है जो सर्वशक्तिमान रचनात्मक आध्यात्मिक तत्त्व होता है जिसमें अपने को जगत् के नाना प्रपञ्चों में व्यक्त करने की शक्ति निहित रहती है।

पाँचवीं स्थिति में भी शक्ति आत्माभिव्यक्ति करती है। इस स्थिति में शक्ति प्रत्यक्षतः शिव के एक ज्ञानशील, भावनाशील और इच्छाशील सहयोगी के रूप में रहती है। इसे 'वेदनाशीला प्रकृति' कहते हैं। यह स्पष्टतः क्रियाशील तत्त्व है जो शाश्वत रूप से शिव से युक्त और शिव से पृथक् भी है। विकास की इस स्थिति में उसे 'कुण्डलिनी शक्ति' कहते हैं। अब यह पूर्णतः कर्तृत्वेच्छा को धारण करती है। इस स्थिति में सम्पूर्ण विश्व, जिसे शिव का 'पर पिण्ड' कहते हैं, समय और स्थान के रूप में शक्ति से उद्भूत सभी

भेदात्मक तत्त्वों के साथ इसी कुण्डलिनी शक्ति के गर्भ में स्थित रहता है। वह एक ओर तो निरपेक्ष शिव के परमप्रिय आनन्दमय आध्यात्मिक बन्धन से बँधी रहती है, दूसरी ओर उसमें नानात्व-मय जगत् की सम्पत्ति करके अपने परमात्मा भगवान् शिव के लिए परपिण्ड-सृजन की अन्तरेच्छा भी होती है।

इस प्रकार गोरखनाथ जी परम आत्मा के असीम अनन्त गत्यात्मक स्वरूप की क्रमिक अभिव्यक्ति तथा उनसे विश्व-प्रपंच के उद्भव के मूल की ओर संकेत करते हैं। क्रमिक आत्म-अभिव्यक्ति, आत्म-प्रकाश और आत्म-प्रत्यक्षीकरण के द्वारा (शक्तिचक्रक्रमेण) कुण्डलिनी-शक्ति क्रमशः अपने को शिव के असीम 'महासाकार पिण्ड' के रूप में परिवर्तित करती है। क्रमशः दिव्य आध्यात्मिक चेतन-तत्त्व का सापेक्षिता तथा समय और स्थान की सीमाओं में प्रवेश करना ही इसकी (कुण्डलिनी-शक्ति के रूप-परिवर्तन की) प्रक्रिया प्रतीत होती है। निरपेक्ष शिव-तत्त्व अपनी ही शक्ति से उद्भूत अनेक असीम और परिवर्तनशील प्राणियों का प्रभु और आत्मा बन जाता है। कुण्डलिनी-शक्ति से 'महाकाश', महाकाश से 'महावायु', उससे 'महातेजस', उससे 'महासलिल' और महासलिल से 'महापृथ्वी' उद्भूत होते हैं। इस प्रकार कुण्डलिनी-शक्ति, जिसमें भेदात्मक तत्त्व, अभेदात्मक अनभिव्यक्त केवल सम्भाव्य रूप में स्थित रहते हैं, अपने को पाँच महाभूतों में प्रकट करती है। यही महाभूत भौतिक-भेदात्मक जगत् के पाँच तत्त्व हैं। 'रिपिण्ड' जो 'आद्य' या 'अनादि पिण्ड' भी कहा जाता है, महासाकार पिण्ड के रूप में प्रकट होता है, महाशक्ति-तत्त्व से उद्भूत नानात्व और शक्ति के द्वारा 'महासाकारपिण्ड' के रूप में संगठित होता है और 'शिव-तत्त्व' जो शक्ति की आत्म अभिव्यक्ति की सभी स्थितियों में उसकी आत्मज्योतिर्मय आत्मा रूप है, इस महासाकार

पिण्ड (विश्व) का प्रकाशक, धारण करने वाला, व्यवस्थापक तथा आत्मा है और स्वामी के रूप में प्रकट होता है।

इसी साकार पिण्ड से तथा इसी साकार पिण्डान्तर्गत अगणित जीव-कोटियों की उद्‌भूति होती है जो उन्हीं तत्त्वों से रचित, उसी शक्ति से संगठित तथा उसी आत्मा से प्रकाशित और प्रेरित होती हैं। इन्हें 'व्यष्टिपिण्ड' कहते हैं। इन व्यष्टिपिण्डों में विकास की अनेक कोटियाँ हैं। बहुत से ऐसे हैं जिनमें प्राण, मन या आत्मा की किसी प्रकार की अभिव्यक्ति नहीं है। बहुत से ऐसे हैं जिनमें प्राण-तत्त्व है किन्तु मन या चेतना नहीं है। कुछ ऐसे भी हैं जिनमें प्राण और मन दोनों प्रकट हैं। जिनमें प्राण और मन दोनों क्रियाशील हैं उनमें भी प्राण-शक्ति और मनोशक्ति के विकास की अनेक कोटियाँ हैं तथा भौतिक शरीर की जटिलता की भी अनेक कोटियाँ हैं। किन्तु ये सब शक्ति द्वारा रचित शिव के महासाकार पिण्ड में प्रकट होते हैं और विलीन होते हैं, जीते और मरते हैं; गतिशील और स्थिर होते हैं तथा अपनी सत्ता और अपना स्वरूप रखते हैं। शिव प्रत्येक जीवधारी के भीतर सदैव विद्यमान आत्मा है, उसकी अन्तरतम चेतना है तथा उनका प्रेरक और नियन्त्रण करने वाला प्रभु है। सभी सत्ताधारियों में उसी शिव और शक्ति की अभिव्यक्ति हुई है जो प्रत्येक मनोभौतिक शरीर की आत्मा कही जाती है। वह प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में प्राण-मन और शक्ति का केन्द्र-बिन्दु है। ये (आत्मायें) प्रकृतितः इन शरीरों की सीमाओं और विशिष्टताओं से आबद्ध हैं। किन्तु अपनी वास्तविक स्थिति में शिव से अभिन्न होने के कारण ये कभी भी शारीरिक परिस्थितियों से दूषित नहीं होतीं। यह एक ही विश्व आत्मा है जो असंख्य व्यक्तिगत आत्माओं के रूप में प्रकट होती है, जो

भेदात्मक शरीर के भीतर निहित रहती है और उसपर स्वामित्व स्थापित करती है।

पूर्ण विकसित मनोभौतिक मानव-शरीर प्रत्यक्षतः शिव के भौतिक शरीर के स्वाभाविक विकास की उच्चतम स्थिति है। इसी मानव-शरीर (व्यष्टि पिण्ड) में, समष्टि-पिण्ड (ब्रह्माण्ड) स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होता है और इस पिण्ड में निवास करने वाली आत्म-चैतन्य आत्मा आत्मसंयम की उपयुक्त साधना के द्वारा इसी शरीर में सम्पूर्ण विश्व की अनुभूति कर सकती है। व्यष्टिपिण्ड समस्त विश्व का संक्षिप्त रूप है और इस प्रकार की अनुभूति भी की जा सकती है। जब इस प्रकार की अनुभूति हो जाती है तभी यह कहा जा सकता है कि पिण्ड का वास्तविक ज्ञान हो गया है। यह गोरखनाथ जी के धर्म और दर्शन की एक विशेषता है कि वे न केवल व्यक्ति की आत्मा को विश्वात्मा से अभिन्न मानते हैं वरन् व्यष्टिपिण्ड को भी समस्त ब्रह्माण्ड से अभिन्न मानते हैं। जब 'व्यक्ति आत्मा' और 'विश्वात्मा' तथा 'व्यष्टिपिण्ड' और 'ब्रह्माण्ड (समष्टिपिण्ड) का अज्ञानजन्य भेद मिट जाता है और एक ही शक्तियुक्त शिव भीतर और बाहर सर्वत्र अनुभूत होता है तभी 'समरसकरण' की स्थिति आती है। इसी स्थिति की उपलब्धि योगी के जीवन का आदर्श है।

❀

कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत होना और चक्रभेद

यह जगत एक आध्यात्मिक विधान है। यह एक ज्ञान-अनुभव एवं इच्छाशील परम आध्यात्मिक सत्ता की आत्म-अभिव्यक्ति है। यद्यपि ऊपर से देखने में यह अनेक तत्त्वों से युक्त है; इसमें अनेक प्रकार की चेतन-अचेतन सीमित सत्तायें हैं; वह अनेक प्रकार की अनुभवशील चेतन तथा अनुभूत होने वाले जड़ पदार्थों से युक्त है; इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की भौतिक, मानसिक एवम् जीव-रचनात्मक प्रक्रियायें हैं। इस प्रकार यह जगत् अनेक भ्रमात्मक नानात्व से युक्त होने पर भी एक ही आध्यात्मिक सत्ता से उद्भूत है, उसीमें स्थित और विकसित है और अन्ततः उसीमें विलीन हो जाता है। यह परमात्म तत्त्व की असीम शाश्वत आत्मचेतन शक्ति की परस्पर सम्बद्ध विविध सांसारिक सीमाबद्ध रूपों में लीलामयी अभिव्यक्ति है। संसार की सभी क्रियायें परम शक्ति के शाश्वत आत्म-आनन्द-तत्त्व है। ऊपर से देखने में जटिल प्रतीत होने वाला यह विश्व-प्रपंच एक ही परम आध्यात्मिक शक्ति से, उसी में, उसीके लिए और उसी का होने के कारण अनिवार्यतः एक उत्कृष्ट सुन्दर आध्यामिक प्रक्रिया समझा जाना चाहिए और इसे परम-आत्मा शिव का पिण्डात्मक प्रतीक मानना चाहिए। संसार के सम्बन्ध में यह एक सुन्दर धारणा है जिसे गोरख-सम्प्रदाय के प्रबुद्ध योगी मानते हैं और दूसरों को शिक्षा देते हैं। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण शाक्तों के तान्त्रिक सम्प्रदाय के प्रबुद्ध गुरुओं से

अभिन्न है। योगी लोग शिव की परम आध्यात्मिक शक्ति को विश्व-जननी के रूप में ध्यान करते हैं और भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं।

विश्व-रूप में अभिव्यक्त यह परम आध्यात्मिक शक्ति, 'महा-कुण्डलिनी शक्ति' कहलाती है। यह विश्व-प्रपंच एक दृष्टि से महा-शक्ति के आत्मविस्तार की प्रक्रिया है और दूसरी दृष्टि से उसके अनि-वार्य आध्यात्मिक स्वरूप की आत्मगोपन-प्रक्रिया है। जब महाशक्ति अपने अन्तर-प्रदेश से समय और स्थान में सीमित अस्तित्व की निम्नतर कोटियो को विकसित करती है और स्वयं अपने को मानसिक, भौतिक तथा प्राण-शक्ति सम्बन्धी तत्वों के निम्नतर प्रकारों में व्यक्त करती है, तब उसका वास्तविक स्वरूप, एक आत्मचेतन और आत्मानन्दमय दिव्य शक्ति, जो परमात्व-तत्त्व से शाश्वत रूप से एकत्वमय है, क्रमशः गुप्त होता जाता है। इस भौतिक संसार मे हम अनेक प्रकार की यान्त्रिक, रासायनिक चुबकीय, विद्युतसम्बन्धी तथा अन्य शक्तियो की क्रिया-शीलता का अनुभव करते हैं, किन्तु एक ही आध्यात्मिक शक्ति, जिससे ये सब उद्भूत होते हैं, जिसमें स्थित रहते हैं और जिससे इनका नियमन होता है, इन्हीं के कारण हमारी दृष्टि से छिप जाती है। इसी प्रकार हम जीवधारियों की दुनिया में प्राण-शक्ति सम्बन्धी, मानसिक तथा भौतिक शक्तियों को क्रियाशील देखते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब मिलकर कपट रूप से हमारी दृष्टि से उस परम आध्यात्मिक शक्ति को गुप्त रखती हैं जिससे उनका अस्तित्व है और जिसकी वे विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दिव्य 'महाशक्ति' इन निम्नस्तर की शक्तियों के सहारे विश्व-प्रपंच को क्रियमाण कर देने के उपरान्त

इस विश्व के मूलाधार में गहन निद्रा का आनन्द ले रही है। सतत क्रियाशील महाकुण्डलिनी-शक्ति सुप्तावस्था में स्थित प्रतीत होती है और ऐसा लगता है कि वह मूलाधार परमात्मा से पृथक् हो गयी है।

सत्य तो यह है कि यह हमारा अज्ञान या आध्यात्मिक अन्धापन है कि दिव्य महाशक्ति हमें सुप्त, अक्रियाशील या विश्व-प्रपंच की घटनाओं के प्रति उदासीन प्रतीत होती है। महायोगियों की प्रबुद्ध दृष्टि में महाशक्ति नित्य जाग्रत, सतत सतर्क, सतत क्रियाशील और सतत शान्त रहती है और विश्व की सभी शक्तियों और प्रक्रियाओं के द्वारा तथा इन्हीं में अपने को अभिव्यक्त करती है और आनन्दित होती है। उसको सर्वव्यापक और सर्वप्रकाशक आध्यात्मिक अस्तित्व की अनुभूति सतत रूप से महयोगियों को होती रहती है। महाशक्ति की उपस्थिति की भावना निश्चित रूप से शिव के गौरवमय अस्तित्व की धारणा को सम्भव बनाती है जो निरपेक्ष तत्त्व है, उसका स्वामी है और आत्मज्योतिर्मय है।

योग-साधना, जो इस आध्यात्मिक दृष्टि की उपलब्धि का सबसे अधिक प्रभावपूर्ण साधन है, प्रायः इस दिव्य महाशक्ति को उसकी तथाकथित सुप्तावस्था से जाग्रत करने का साधन कही जाती है। योगपद्धति के अनुसार महाकुण्डलिनी-शक्ति, जो अपने निरपेक्ष रूप में परम तत्त्व 'शिव' के साथ नित्य आनन्दमयी एकता की स्थिति में रहती है तथा जो विश्व-प्रक्रिया का गत्यात्मक कारण है, मानव-शरीर (व्यष्टि-पिण्ड) के अन्तर्गत अनुभव की जा सकती है। अपनी व्यक्तिगत स्थिति में हम लोग प्रायः अपने को इतनी अधिक भौतिक एवं प्राणतत्त्व तथा मनस्तत्त्व सम्बन्धी शक्तियों के अधीन पाते हैं कि हम आध्यात्मिक शक्ति की उपस्थिति का अनुभव नहीं कर

पाते जो इन सबका वास्तविक कारण है और जिसकी ये सब निम्नतर स्थितियों में होने वाली आत्म-अभिव्यक्तियाँ हैं। आध्यात्मिक शक्ति इनकी पृष्टिभूमि में आधार-रूप में सुप्त प्रतीत होती है। जब तक हमारी आध्यात्मिक चेतना जाग्रत नहीं होती और हम भौतिक शक्तियों, प्राणशक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा मानसिक प्रवृत्तियों से नियन्त्रित रहते हैं, दिव्य शक्ति प्रत्यक्षतः हमारे अन्तर्गत सुप्त और निश्चल पड़ी रहती है।

आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत और क्रियाशील बनाना चाहिए और अनुशासन की प्रभावपूर्ण विधियों के पालन से इसमें ऐसी शक्ति लानी चाहिए कि यह निम्न स्तर की शक्तियों के आवरणों का भेदन कर सके और इस प्रकार यह अनुभव कर सके कि वही 'महाशक्ति' जो समस्त विश्व की जननी और सेविका है और अपने बच्चों के साथ शाश्वत रूप से उद्भूत क्रीड़ायें कर रही है, व्यक्तिगत शरीर के भीतर भी अपने समस्त गौरव के साथ विद्यमान है। जब आध्यात्मिक चेतना पूर्णतः जाग्रत हो जाती है तो शिव (निरपेक्ष तत्त्व) और शक्ति (शिव की गत्यात्मक आध्यात्मिक शक्ति) की आनन्दमयी एकता का अनुभव इस सीमित और मरणशील मनोभौतिक शरीर में भी पूर्णतः किया जा सकता है। आलंकारिक ढंग से योगी लोग आध्यात्मिक चेतना के जाग्रत होने की प्रक्रिया को शरीरान्तर्गत कुण्डलिनी-शक्ति (परम आध्यात्मिक शक्ति) के जाग्रत होने की प्रक्रिया कहते हैं।

प्रबुद्ध योगी-गण, और वास्तव में सभी धार्मिक गुरु, जिन्हें उच्चस्तर की आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त है, आध्यात्मिक सत्यों के प्रचार तथा गहन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में उपमा, रूपक तथा काव्यात्मक कल्पनाओं के सहारे आलंकारिक भाषा का प्रयोग करते हैं। असंस्कृत व्यक्ति प्रायः उनकी साहित्यिक अभिव्यक्तियों

के सौन्दर्य का आनन्द लेने में रह जाते हैं और उनके कथन की सूक्ष्म आन्तरिक भावना में प्रवेश नहीं कर पाते। वे कभी-कभी इन महान शिक्षकों के गहन, सूक्ष्म एवं संकेतात्मक कथनों के ऊपरी अर्थ से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

परम आध्यात्मिक शक्ति, जो हमारे सामान्य शक्ति वाले जीवन-क्रम में मानसिक, प्राणशक्ति-सम्बन्धी तथा भौतिक शक्तियों के रूप में प्रकट होती है और जिसके वास्तविक स्वरूप को हमारी चेतना लक्षित नहीं कर पाती, एक सुप्त सर्पिणी के रूप में मानी जाती है जो केन्द्रीय सुषुम्ना नाड़ी की निम्नतम सीमा—मूलाधार-चक्र—में स्थित है। इस सुप्त सर्पिणी का विवरण, इसकी स्थिति, इसके कुण्डलित होने का ढंग, इसकी सहायक परिस्थितियाँ, ये सभी सांकेतिक हैं और अत्यधिक आध्यात्मिक महत्त्व रखते हैं। योग-प्रक्रिया का उद्देश्य इस सुषुप्त सर्पिणी (कुण्डलिनी-शक्ति) को जाग्रत करके तथा सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से अनेक चक्रों और पद्मों से, जो आध्यात्मिक अनुभूतियों के उच्चतर केन्द्र हैं, होते हुए क्रमशः उच्चतर स्थितियों की ओर ले जाकर सुषुम्ना नाड़ी की उच्चतम सीमा पर सहस्रसार-चक्र और सहस्रदल कमल में स्थित शिव-तत्त्व से अन्ततः मिला देता है। यह सुप्त सर्पिणी कुण्डलिनी है जो हमारी सत्ता के मूल में स्थित है, जो हमारे अस्तित्व को स्थित रखती है, हमारे जीवन और मन पर शासन करती है, परन्तु हमारे स्वभाव के असंस्कृत तथा हमारी आध्यात्मिक चेतना के अजाग्रत होने के कारण हमारे सामान्य जीवन-क्रम में अस्तित्वविहीन सी प्रतीत होती है।

सुषुम्ना नाड़ी अपनी निम्नतम सीमा पर स्थित शान्त एवं सुप्त कुण्डलिनी शक्ति तथा अपनी उच्चतम सीमा पर स्थित स्वयं ज्योति-

निरपेक्ष 'शिव' को जोड़नें वाली कड़ी है। वह महाशिव और शक्ति के बीच की उस दूरी को भी प्रकट करती है जो शक्ति के आत्म-विस्तार, आत्म-परिवर्तन एवम् आत्मगोपन के कारण उत्पन्न हो जाती है। 'शिव' और 'शक्ति' अनिवार्यतः एक हैं। अतः इस प्रत्यक्ष पार्थक्य की स्थिति में भी दोनों में मिलन की भावना बलवती रहती है। 'शिव' शक्ति की अन्तरात्मा एवं स्वामी है। इसलिए शक्ति के स्वभाव में ही निरपेक्ष स्थिति के उच्चतम स्तर पर शिव से मिलने की प्रवल भावना निहित रहती हैं, यद्यपि सुप्तावस्था में इस भावना का अनुभव नहीं होता, सुषुम्ना नाड़ी 'शिव' और 'शक्ति' के पुर्नमिलन का मार्ग है। इस सुन्दर और स्वच्छ मार्ग को ब्रह्म नाड़ी, ब्रह्म-मार्ग, *या योग-मार्ग* कहते हैं। शक्ति अपने को उच्च से उच्चतर स्थितियों में ले जाने के लिए ; स्वयं उत्पन्न की हुई आवरण की विभिन्न शक्तियों से मुक्त होने के लिए और क्रमशः अपने वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट करके निरपेक्ष तत्त्व शिव के साथ आनन्दमय पुर्नमिलन के लिए इसी सूक्ष्म स्रोत का आधार लेती है।

यह सुषुम्ना नाड़ी या ब्रह्म–मार्ग—मनोभौतिक शरीर का केन्द्रीय सूक्ष्म मार्ग—'मूलाधार चक्र' से आरम्भ होकर 'सहस्रसार-चक्र' तक जाता है। मूलाधार-चक्र निम्नतम भौतिक स्तर है और सहस्रसार उच्चतर आध्यात्मिक स्तर है। मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी शक्ति सुप्तावस्था में रहती है सहस्रसार-चक्र में शिव और शक्ति की आनन्दमयी मिलन-स्थिति रहती है। यह सुषुम्ना नाड़ी कई स्तरों में विभक्त है। प्रत्येक स्तर के केन्द्र में एक सूक्ष्म 'चक्र' और 'पदम' है। ये 'चक्र' भिन्न-भिन्न संख्या में अरायें रखते है और पद्मों के 'दलों' की संख्या भी भिन्न भिन्न है।

सब चक्रों के ऊपर स्थित सहस्रसार-चक्र के अतिरिक्त प्रायः छः चक्रों का उल्लेख किया गया है। ये छः चक्र इस प्रकार हैं:— 'मूलाधार' 'स्वाधिष्ठान', 'मणिपूर', 'अनाहत', 'विशुद्ध' 'अज्ञा'। सामान्यतः इन चक्रों की क्रमिक स्थिति इस प्रकार मानी गयी है :– मूलाधारचक्र मेरुदण्ड के मूल में; स्वाधिष्ठानचक्र जननेन्द्रिय के मूल में, मणिपूर नाभि–प्रदेश मे; अनाहत हृदय-प्रदेश में विशुद्ध काण्ड—प्रदेश में; अज्ञा भूमध्य में। यह ध्यान रखना होगा कि चक्रों की स्थिति, बनावट और स्वरूप का यह सामान्य संकेत साधारणतः प्रारम्भिक स्थिति के दीक्षित व्यक्तियों के लिए है। ये चक्र सुषुम्ना नाड़ी या आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्मतम मार्ग की उच्चतर भूमियों की अनुभूतियों के विभिन्न केन्द्र है। अतः स्थूल भौतिक वास्तविकताओं के आधार पर इनका वर्णन नहीं किया सकता। सामान्य सत्यान्वेषी की अप्रकाशित बुद्धि के लिए किसी प्रकार सुगम बनाने के लिए ही प्रबुद्ध योगी शिक्षक इन स्थूल उपायों से इनका वर्णन करते हैं। एक वास्तविक सत्यान्वेषी इन स्थूल भौतिक वर्णनों के द्वारा इन्हें समझता है और फिर उनके आध्यात्मिक महत्त्व को हृदयंगम करता है। यह भी ध्यान यें रखना होगा कि छः की संख्या को योगी लोग किसी प्रकार की विशेष पवित्र भावना से सम्बद्ध नहीं करते। योग-साधना की प्रामाणिक कृतियों में यद्यपि इन चक्रों की संख्या सामान्यतः छः ही मानी गयी है किन्तु विभिन्न प्रामाणिक ग्रथों में यह संख्या 'आठ' 'नौ' या इससे भी अधिक मानी गयी है। इन चक्रों और पद्मों की स्थितियों और वर्णनों में भी विभिन्नता पायी जाती है।

इस सम्बन्ध में जो विशेष रूप से समझ लेने की बात है वह यह है कि दिव्य शक्ति अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में आत्म-अभिव्यक्ति

की स्थिति में क्रमशः निम्नतर स्तरों पर उतर आयी है, परमतत्त्व से अपने को क्रमशः अधिक से अधिक उदासीन बना लिया है, अपने ही आनन्दमय आत्मचेतन आध्यात्मिक स्वरूप से क्रमशः अपने को पृथक् कर लिया है, यहाँ तक कि अन्ततः वह अचेतन भौतिक सत्ता मात्र रह गयी है। इसीलिए कमलों के दल अधोमुखी माने गये हैं। आध्यात्मिक आत्म संयम या योग-साधना, विरुद्ध उर्ध्व दिशा में उन्मुख होकर, उसी दिव्य-महाशक्ति की आत्म-अनुभूति की एक प्रक्रिया है। महाशक्ति जाग्रत होती है, आध्यात्मिक भाव की उच्च से उच्चतर स्थितियों में होती हुई क्रमशः अपने वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त करती है और परमतत्त्व 'शिव' से मिलकर एक हो जाती है।

मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव में ही भौतिक, प्राणत्व सम्बन्धी मानसिक तथा बौद्धिक चेतना की भी सीमाओं और अपूर्णताओं से ऊपर उठने की एक प्रकृत भावना होती है। प्रत्येक मानव जाने-अनजाने भौतिक तत्त्वों के दुःखपूर्ण बन्धनों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक आत्मपूर्णता की आनन्दमयी मुक्तावस्था का अनुभव करना चाहता है। वह सीमा और मृत्यु, नानात्व और द्वैतता, दुर्बलता और अज्ञान, अपूर्ण इच्छाओं और अधिकतर प्राप्ति की सतत कामना के क्षेत्र का अतिक्रमण करके असीमता और अमरत्व, एकता और अद्वैत, शक्ति की पूर्णता और बुद्धिमत्ता, सभी इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ण तुष्टि तथा पूर्ण शान्ति, मुक्ति और आनन्द के लोक में स्थित होना चाहता है। यह मानव-स्वभाव की प्रकृत आध्यात्मिक चेतना है। यह आध्यात्मिक चेतना यद्यपि निश्चित रूप से मनुष्य को आन्तरिक प्रेरणा देती रहती है, किन्तु मनुष्य के सामान्य जीवन-क्रम में शिथिल और सुप्त प्रतीत होती है और

उनकी बौद्धिक चेतना सामान्यतः इस आन्तरिक आध्यात्मिक प्रेरणा को उसकी (मनुष्य की) भौतिक, शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं के आधार पर समझने की चेष्टा करती है और इसीके अनुसार उसे दिशा-निर्देश करती है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने साधारण जीवन-क्रम में कभी दुःख से मुक्त नहीं होता, कभी आन्तरिक शान्ति का अनुभव नहीं करता और अपने जीवन को सांसारिक वातावरण के अनुरूप कभी भी नहीं बना पाता।

योग-विद्या के अनुसार मानव स्वभाव में निहित यह आन्तरिक आध्यात्मिक प्रेरणा दिव्य कुण्डलिनी-शक्ति की ही अभिव्यक्ति है जो प्रत्यक्षतः मूलाधार में सुप्त पड़ी रहती है किन्तु भीतर से अपनी चेतना की निरपेक्ष स्थिति में परमतत्त्व शिव से आनन्दमय मिलन के लिए व्याकुल रहती है। योग की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उद्देश्य मनुष्य की भौतिक प्राणशक्ति सम्बन्धी मानसिक और बौद्धिक शक्तियों को पवित्र, संस्कृत तथा एकाग्र करके उन्हें सम्मिलित रूप से आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत, शक्तिपूर्ण, एवं प्रबुद्ध करने के लिए उन्मुख कर देना है ताकि दिव्य कुण्डलिनी-शक्ति क्रमशः सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर उठती हुई सभी चक्र और पद्मो को (अनुभूति के सभी अवरोधक तत्त्वो को) भेद कर आत्म--अभिव्यक्ति की निम्नतर भूमियों की अपूर्णताओं और आवरणों—भौतिक, प्राणतत्त्वसम्बन्धी, ऐन्द्रिय, मानसिक, बौद्धिक तथा निम्न-कोटि की आध्यात्मिक भूमियों—से मुक्त होकर अन्ततः अपने वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूप में पुनः स्थित होकर परमतत्त्व 'शिव' से एकत्व स्थापित कर सके। योगी की चेतना कुण्डलिनी शक्ति से सम्बद्ध होती है। ज्यों-ज्यों यह महाशक्ति अनुभूति के

उच्चतर केन्द्रों की ओर बढ़ती हुई उनको उर्ध्वमुख करके उनका अतिक्रमण करती जाती है, त्यों-त्यों योगी साधक की चेतना भी उसी के साथ-साथ उन्नत होती जाती है। महाशक्ति के शिव से मिलन का तात्पर्य योगी की चेतना का भी शिव-तत्त्व से मिलन है। जब दीर्घ काल तक बार-बार अभ्यास करने से शिव से एकत्व-स्थापन की भावना योगी का स्वभाव बन जाती है, तब वह शिवत्व प्राप्त कर लेता है।



१०.—मन्त्रयोग, अजपा और नादानुसन्धान

यह देखा गया है कि गोरखनाथ जी की योग-पद्धति आध्यात्मिक संस्कृति का एक सर्वव्यापक रूप है। इसके अन्तर्गत (१) 'यम' और 'नियम्' के अभ्यास के कारण नैतिक और सामाजिक अनुशासन की प्रक्रिया का समावेश हो गया है; (२) त्याग, पवित्रता, सांसारिक क्षणिक और सीमित वस्तुओं से अनासक्ति, प्राकृतिक इच्छाओं, भावनाओं और प्रवृत्तियों का संयमन, व्यापक सहानुभूति तथा भ्रातृभावना एवं सभी प्राणियों की सविनय सेवा आदि को क्रमिक अभ्यास पर इस सम्प्रदाय में बल दिया गया है, (३) परमतत्त्व के निरपेक्ष एवं गत्यात्मक स्वरूप तथा देवी-देवताओं के अनेक रूपों में उनकी परमोत्तम एवं गौरवमयी आत्म-अभिव्यक्तियों—दोनों के प्रति भक्ति, श्रद्धा, प्रेम और श्लाघा की भावना में विश्वास के अभ्यास का आवश्यक माना गया है, (४) योग्य गुरु के निर्देशन

में शारीरिक, प्राणतत्व-सम्बन्धी एवं मानसिक प्रक्रियाओं तथा इन्द्रियों और मस्तिष्क के शरीरान्तर्गत छिपी हुई असाधारण शक्तियों तथा गौरव को प्रकट करने के लिए नियमन, संयमन तथा दमन और उनके ऊपर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने की व्यवस्था की गयी है; (५) दिव्य आध्यात्मिक शक्ति की, जो समान्यतः मानव-प्रकृति के अन्तर्गत सुप्तावस्था में पड़ी रहती है, जागृति, उन्नयन एवं प्रबोधन के लिए आन्तरिक आत्मसंयम की एक क्रमिक प्रक्रिया का विधान किया गया है ताकि अनुभूति की निरन्तर स्थितियों की अपूर्णताओं एवं सीमाओं का अतिक्रमण करके अन्ततः निरपेक्ष आध्यात्मिक स्तर पर परमतत्त्व के साथ सभी सत्ताधारियों का आनन्दमय मिलन सम्भव हो सके।

जब एक योगी की चेतना आध्यात्मिक अनुभूति के उच्चतम स्तर पर पहुँच जाती है तब वह 'सामरस्य' (परमआत्मा की प्रकृति के साथ सभी सत्ताओं की आध्यात्मिक एकता) के पूर्ण ज्ञान से प्रबुद्ध हो जाती है। तब वह 'जड़' और 'चित्', 'देहपिण्ड' और 'आत्मापद', 'सान्त' और 'अनन्त', 'नित्य' और 'अनित्य', 'परिणामी' और 'अपरिणामी', 'बहुत्व' और 'एकत्व', 'द्वैत' और 'अद्वैत' के भेदों का अतिक्रमण कर जाता है। वह जड़ता में चेतना, शरीर में आत्मा, सान्त में अनन्त और अनित्य परिणामी सापेक्षिक नानात्व में एक नित्य अपरिणामी तत्त्व का दर्शन करता है। वह उचित-अनुचित, अच्छा-बुरा तथा पाप-पुण्य के नैतिक भेदों का भी अतिक्रमण कर जाता है। वह प्रत्येक वस्तु को दिव्य और सुन्दर मानता है क्योंकि सभी वस्तुएँ एक ही परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। वह वैयक्तिकता, साम्प्रदायिकता, सामाजिकता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के स्तरों में भी ऊँचाई पर निवास करता है। वह

किसी भी वर्ण, आश्रम, जाति या सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं रहता। वह परम आत्मा के राज्य में रहता है, विचरण करता है और अपनी सत्ता तथा संसार के अन्य गोचर पदार्थों में उसकी अभिव्यक्ति का अनुभव करता है। उसका प्रकृति के साथ पूर्ण सामञ्जस्य हो जाता है। वह संसार का वास्तविक रूपमें आनन्द लेता है।

योग-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध शिक्षक पूर्णत: सतर्क थे कि षडाङ्ग योग की साधना के लिए कुछ विशेष प्रकार की योग्यता अपेक्षित है जो सभी वर्गों के पुरुषों और स्त्रियों में नहीं पायी जाती। कुछ भी हो, आध्यात्मिक भावना मानव मात्र के स्वभाव में निहित होती है। आध्यात्मिक चेतना यद्यपि सामान्यत: अनेक प्रकार की सांसारिक प्रेरणाओं तथा शारीरिक, मानसिक एवं प्राणतत्व सम्बन्धी भावनाओं और प्रवृत्तियों से दबी रहती है, किन्तु इनमें से अनेक स्थितियों में वह बड़ी ही सरलता से जाग्रत की जा सकती है। इसे सामान्य एवं सर्वसुलभ बनाने के लिए आध्यात्मिक अनुशासन की सरलतम प्रणाली आवश्यक है। गोरखनाथ तथा अन्य प्रधान योगियों ने जनसाधारण के लिए विश्वास, प्रेम और भक्तिमय धर्म की व्यवस्था की। जनसामान्य बड़ी सरलता से जाग्रत आध्यात्मिक चेतना के साथ इसका अभ्यास कर सकता है और यह साधना उसे वैयक्तिक आत्मा एवं परमात्मा के आनन्दमय मिलन की अनुभूति कराने में किसी प्रकार भी कम प्रभावपूर्ण नहीं है। यह प्रसंगवश ध्यान में रखना होगा कि मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन के अनेक प्रसिद्ध नेताओं ने अपनी गुरु-परम्परा योगी गुरु गोरखनाथ से प्रारम्भ की है।

विश्वास, भक्ति और प्रेम की नियमित साधना (बिना किसी प्रकार के अन्धविश्वास, हठधर्मिता और संकीर्णता के) प्रत्याहार,

धारणा और ध्यान के अभ्यास को जन्म देती है और यदि सच्चाई के साथ चलती रहे तो समाधि की स्थिति तक ले जाती है और सम्पूर्ण सत्ता को आध्यात्मिक प्रकाश से मण्डित कर देती है। इस मार्ग में भी एक प्रबुद्ध गुरु के अनुग्रह की उतनी ही आवश्यकता है जितनी षडाङ्ग योगसाधना के मार्ग में। आध्यात्मिक शान्ति एवं प्रकाश के अन्वेषक को नम्रता और तत्परता के साथ ऐसे गुरु की सेवा में जाना चाहिए जिसे परमतत्त्व के मिलन की आध्यात्मिक अनुभूति हो चुकी हो। ऐसे गुरु से परमतत्त्व के विषय में एक निश्चित भावना (जहाँ तक सम्भव हो सके) और एक मन्त्र (जो गुरु की निजी आध्यात्मिक शक्ति से प्रेरित हो) प्राप्त करना चाहिये। यह मन्त्र उसके लिए परमतत्त्व का शाब्दिक प्रतीक होना चाहिये और उसे अपना सम्पूर्ण ध्यान इसी पर एकाग्र करना चाहिये। गुरु से पवित्रतापूर्वक प्राप्त किया हुआ यह मन्त्र शीघ्र ही उसकी चेतना को उच्च से उच्चतर आध्यात्मिक स्तर तक ले जायेगा और उसे शारीरिक, मानसिक तथा प्राणतत्त्व सम्बन्धी स्तरों के बन्धनों और कलुषों से मुक्त कर देगा और अन्तत: उसे परमतत्त्व से मिलन के स्तर तक ले जायगा। इस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये मन्त्र को मन में स्मरण रखना चाहिये और जिह्वा से धीरे-धीरे उच्चरित करना चाहिये। साधक को अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार जितनी बार और सतत रूप से जितनी देर सम्भव हो सके, मन्त्रोच्चारण करना चाहिये। विश्वास, भक्ति और प्रेम के साथ मन्त्र के दिव्य महत्व का मनन करना चाहिये। परमात्मा के प्रति भक्ति और प्रेम का अभ्यास करने के लिए अर्थ-भावना (आध्यात्मिक अर्थ का गहन ध्यान) के साथ जप (मंत्र रूप में मूर्त भगवान् के नाम की आवृत्ति) की क्रिया सबसे अधिक व्यावहारिक वस्तु है। जप का आदर्श रूप यह है कि भगवत् तत्त्व और भगवत् नाम का प्रत्येक श्वास के साथ स्मरण करना चाहिये।

प्रामाणिक धर्म ग्रन्थों में अनेक मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। ये मन्त्र अनेक प्रकार के हैं। उनमें से अनेक परमात्मा की भावना से सम्बद्ध हैं, यद्यपि वे विभिन्न पवित्र नामों के रूप में हैं। विभिन्न सम्प्रदायों में एक ही अनन्त, नित्य, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वनिरपेक्ष परमात्मा विभिन्न पवित्र नामों से अभिहित किया गया है और प्रायः विभिन्न बौद्धिक दृष्टियों से उसका निरूपण और भावना किया गया है। ये विभिन्नतायें मन्त्रयोग के प्रभाव या परमात्माके, जो विश्वात्मा और प्रत्येक जीव की आत्मा भी है, प्रति विश्वास, भक्ति और प्रेम के अभ्यास में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित करती। सच्चे आध्यात्मिक जिज्ञासु को जप और ध्यान के नियमित अभ्यास के लिए इनमें से किसी मन्त्र को ग्रहण कर लेना चाहिये और तब कालक्रम से उसकी चेतना प्रबुद्ध हो जायेगी और वह परमतत्त्व की अनुभूति से गौरवान्वित हो उठेगा। आध्यात्मिक जिज्ञासु को मन्त्र का चुनाव अस्थिरतापूर्वक नहीं करना चाहिये। योग्य गुरु के द्वारा शिष्य की आन्तरिक प्रकृति का ध्यान रखते हुए सावधानी के साथ मन्त्र का चुनाव किया जाना चाहिये। गुरु में यह सामर्थ्य होना चाहिये कि वह 'मन्त्र' को अपनी आध्यात्मिक शक्ति से प्रेरित कर सके और शिष्य के लिए इसे जीवन-शक्ति देने वाला बना सके।

ऐसे अन्य मन्त्र हैं जो किसी विशिष्ट देवता की भावना से सम्बद्ध हैं—ऐसे देवता जो परम आत्मा की परम शक्ति की विशिष्ट आत्म-अभिव्यक्ति है। निर्धारित रूपों और विधियों के साथ किसी निश्चित उद्देश्य से ऐसे मन्त्रों का नियमपूर्वक किया गया जप विशिष्ट फल की प्राप्ति कराता है। इन सभी मन्त्रों में विशिष्ट शक्तियाँ निहित हैं। वे अपने निजी ढंग से प्रभावशाली हैं। इन

मन्त्रों के अभ्यास से कभी-कभी अनेक अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ऐसे अनेक योगी हो चुके हैं जिन्होंने गुह्यात्मक शक्तियों की प्राप्ति और सांसारिक ऊद्देश्यों की पूर्ति के लिये इस प्रकार को मन्त्रयोग की साधना का पर्याप्त प्रयोग किया था। मन्त्र-योग की साधना से भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, ठीक वैसे ही जैसे वे 'प्राणायाम','मुद्रा''बन्ध' इत्यादि के विशिष्ट रूपों के और 'संयम' (किसो वस्तु पर आत्यन्तिक रूप से ध्यान का केन्द्रीकरण) के विशिष्ट रूपों के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती हैं।

प्रबुद्ध योगी शिक्षक निश्चय ही 'मन्त्रयोग' या षडाङ्ग योग की प्रक्रिया के इस प्रकार के दुरुपयोग के लिये प्रोत्साहन नहीं देता। वे शिष्यों को निर्देश देते हैं कि योग-साधना की प्रत्येक क्रिया का अभ्यास इस रूप में करना चाहिये कि वह उनके आध्यात्मिक विकास में सहायक हो सके और सभी प्रकार के बन्धनों से उन्हें मुक्ति दिला सके। रहस्यात्मक शक्ति या दृष्ठि भी एक प्रकार का बन्धन ही है और एक सच्चे योगी को उससे छुटकारा पाना चाहिये। इसलिए इस प्रकार के मंत्रों को अभ्यास के लिये ग्रहण करना चाहिये, ताकि साधक का मन परम-आत्मा की भावना से भर जाय और उसके प्रति श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, भक्ति और प्रशंसा की भावना का उदय हो सके। योग-साधना के शिक्षकों ने प्रत्येक श्वांस के साथ भगवन्नाम स्मरण को बहुत महत्व दिया है और यह उनके मन्त्र-योग का मूलतत्त्व है।

योगी गुरु गोरखनाथ ने जीवन के चरम साध्य के सतत् स्मरण-ध्यान के लिए तथा अन्ततः उसकी अनुभूति के लिए एक अन्य प्रभावशाली और सुन्दर प्रक्रिया की शिक्षा दी है। इस प्रक्रिया को

'अजपा' कहते हैं। एक व्यक्ति साधारण स्वरूप-स्थिति में स्वभावतः प्रत्येक चौबीस घण्टे के भीतर २१६०० बार श्वाँस भीतर खींचता और बाहर निकालता है। श्वाँस के बाहर निकालने और भीतर खीचने की इस स्वभाविक क्रिया को इस रूप में लिया जाता है कि जीव विश्व में जाकर 'विश्वात्मा' या निरपेक्ष सत्ता से मिलकर एक हो जाता है और पुनः 'विश्व' या 'विश्वात्मा' को भीतर अपने में खींचकर अपनी सम्पूर्ण सत्ता को परमतत्त्व से भर देता है। ऐसा समझा जाता है कि श्वाँस बाहर निकालते समय (रेचक में) वैयक्तिक आत्मा 'हम' की ध्वनि (जिसका, तात्पर्य अहम् से है) के साथ 'विश्वात्मा' या 'परमात्मा' में विलय के लिए बाहर निकलता है और भीतर श्वाँस खींचते समय 'सा' की ध्वनि के साथ (जिसका तात्पर्य उससे या विश्वात्मा या परमात्मा से है) भीतर पुनः वैयक्तिक चेतना में लौट आता है। इस प्रकार वह मानो 'विश्वात्मा को अपने में ले आता है। इस प्रकार, ऐसा माना जाता है कि जाग्रत तथा सुप्तावस्था में अनिच्छिन्न रूपसे होने वाली प्रत्येक श्वास-प्रक्रिया के द्वारा शक्ति का विश्व के साथ, अन्तः का वाह्य के साथ, अंश का अंशी के साथ, शरीरबद्ध आत्म-चेतना का नित्यमुक्त आत्मा के साथ तथा सीमित अभिभूत चेतना का सर्वव्याप्त एवं सर्वनिरपेक्ष परम चेतना के साथ एकीकरण के लिये सतत् रूप से एक प्राकृतिक प्रयत्न चल रहा है।

हमारी सामान्य श्वाँस-प्रक्रिया की, गुरु गोरखनाथ द्वारा सिखाई हुई, यह एक सुन्दर और सूक्ष्म धारणा है। एक आध्यात्मिक सत्यान्वेषी के लिए प्रत्येक श्वास पर ध्यान देने तथा उसके आध्यात्मिक महत्त्व को समझने का निर्देश किया गया है क्योंकि यह स्वभावतः भक्तिपूर्ण हृदय से बाहर निकलती है।

स्वाभाविक श्वांस-प्रक्रिया का यमित, नियमित, दीर्घकालीक या अल्पकालिक करने के लिए किसी प्रकार का बाहरी प्रयत्न किये बिना उसे केवल यह ध्यान देना होता है कि कोई भी श्वांश (कम से कम जागृत अवस्था में) व्यर्थ न जाय उसे अपनी तथा सर्व व्यापक दिव्य तत्व की एकता का स्मरण रखना होगा। यही वह सत्य है जिसे प्रत्येक श्वांस अव्यक्त रूप से उसके हृदय में ध्वनित करती रहती है। यही अजपा-योग है। 'गोरक्ष-शतक' में गोरखनाथ जी ने स्वयं कहा है—'अजपा की तुलना में कोई भी अन्य विद्या, कोई भी अन्य जाप और कोई भी अन्य ज्ञान नहीं रखा जा सकता। अजपा के सतत् अभ्यास से आत्मा और 'ब्रह्म' की एकता 'जीव' और 'शिव' को एकता का सत्य आध्यात्मिक क्षेत्रमें अनुभूत होता है। सभी प्रकार की विषय-कामना, घृणा, ईर्ष्या, भय, चिन्ता अन्यमनस्कता दूर हो जाती है और हृदय में आत्मपूर्णता की चेतना के आनन्द का अनुभव होता है।" अजपा के अभ्यास की उच्चतर स्थिति में 'श्वांस' के ऊपर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं है। आत्मा और ब्रह्म की आनन्दमयो एकता की भावना में श्वांस पर केन्द्रित ध्यान क्रमशः लय हो जाता है। अहं की चेतना भी समाप्त हो जाती है और केवल एक ज्योति से प्रकाशित अभेदात्मक आनन्द-मयी चेतना रह जाती है। इस प्रकार अजपा के अभ्यास से समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है और शिव या ब्रह्म की एकता का आनन्द अनुभूत होता है। यों गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियों ने आत्मा और जगत के सम्बन्ध में एक अन्य महान भावना को लोक-प्रिय बनाया है और इस भावना पर आधृत एक विश्वजनीन साधना की विधि की शिक्षा दी है। अति प्राचीन काल से ही भारतीय आध्यात्मिक साधना की सभी पद्धतियों ने सर्व सम्मति से ॐ (प्रणव) को साधारण एक स्वर ध्वनि को परमात्मा का

अद्वितीय ध्वनि-प्रतीक माना है चाहे विविध साधना-मार्गों में वह जिस किसी भी पवित्र नाम से अभिहित किया जाता हो। ओम् प्रथम ध्वनि है, प्रारम्भिक ध्वनि है, यह अनायास अभेदात्मक प्राकृतिक ध्वनि है, यह 'शक्ति' की ध्वनि रूप में स्वेच्छया आत्म अभिव्यक्ति है। यह सभी प्रकार की विशिष्ट ध्वनियों का मूल स्त्रोत माना जाता है; यह सभी शब्दों और वाक्यों का मूल उद्गम एवं मूलाधार है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह वेदों का आधार है, यह वेदों की आत्मा है और इसमें देदों का वास्तविक अर्थ निहित है। ऐसी धारणा है कि यह विश्व हृदय एवं मान-हृदय का नित्य संगीत है। यह स्वीकार किया गया है कि 'ॐ' ऐसी संज्ञा है जिसे विश्व के परमाधार ने स्वय ग्रहण कर लिया है और किसी विशिष्ट जनसमुदाय के द्वारा यह संज्ञा उसे नही दी गई है।

इस सामान्य ध्वनि-रूप में शक्तियुत परमात्मा की आत्म-अभिव्यक्ति को 'अनाहत नाद' कहा जाता है, क्योंकि यह एक ऐसी ध्वनि है जो किसी प्रकार के आघात या रगड़ से नहीं उत्पन्न होती और न यह विभिन्न भागों में विभाजित ही हो सकती है। यह अनादि अनन्त, एकलय एवं पूर्ण है। यह उच्चारण के लिए नहीं हैं वरन् मन की एकाग्रत के अभ्यास के द्वारा परिलक्षित किये जाने के लिये है। प्रत्येक उच्चरित ध्वनि स्वर-यन्त्रियों के आघात से उत्पन्न होती है, वह विभाजित होता है किन्तु ॐ सभी विशिष्ट खंडित ध्वनियों के मूल में निहित सर्वव्यापक अखण्ड ध्वनि है। परमात्मा के इस ध्वनि प्रतीक के अनुसन्धान को ही 'नादानुसन्धान' कहत हैं। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रभावशाली योग-पद्धति है जिसकी शिक्षा गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियों ने दी है।

सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि अनाहत नाद साधक

के हृदय के अन्तरतम प्रदेश में, बिना किसी प्रयत्न के, सतत् रूप से विद्यमान रहता है। परमात्मा निश्चय ही इस रूप में अपनी गौरव-मयी उपस्थिति प्रकट करता है। यह 'शब्द ब्रह्म' है (ब्रह्म की शब्द या ध्वनि रूप में अभिव्यक्ति) 'नाद' का अनुसन्धान वस्तुतः ब्रह्म का हृदय में अन्वेषण है। एक साधक के लिये आवश्यक है कि वह अपना ध्यान स्थिरतापूर्वक इस 'नाद' पर केन्द्रित करे जिसकी धारणा प्रारम्भिक स्थिति में अस्पष्ट होती है। हृदय इच्छाओं, पूर्वकृत कर्मों के प्रभावों तथा अनेक प्रकार की भावनाओं और प्रवृत्तियों का केन्द्र होता है जिनसे अनेक प्रकार के हलचल और उपद्रव उत्पन्न होते हैं। फलस्वरूप सामान्य जीवन-क्रम में यह 'नाद' न तो सुना जा सकता है न अनुभव किया जा सकता है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए सतर्कता और दृढ़ता, पूर्वक अभ्यास करना चाहिये। हृदय के भीतर शुद्ध और शान्त वातावरण उत्पन्न करना चाहिए और ध्यान को सतत रूप से 'नाद' की ओर केन्द्रित करने की चेष्टा करनी चाहिए।

हृदय के भीतर'नाद' के अनुसन्धान तथा उसपर ध्यान के केन्द्रीकरण के लिए प्रारम्भिक स्थिति में प्रायः प्रणव-जाप को एक प्रभावात्मक सहायता के रूप में ग्रहण किया जाता है। अनाहत नाद के अनुकरण में आंख और कान को सतर्कतापूर्वक बन्द करके 'प्रणव' को नियमित और दीर्घ उच्चारण (उदाहरणार्थ -ओ-ओ-उ -उ-म्-म्)तथा इस एकस्वर उच्चरित ध्वनि पर ध्यान की एकाग्रता का अभ्यास साधना की प्रक्रिया में अत्यधिक उपयोगी है। रात्रि की नीरवता तथा पर्वत गह्वरों एवं निर्जन वनप्रदेशों की शान्ति इत्यादि इसके लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं। साधक को किसी उपयुक्त स्थान में सतर्क मुद्रा एवं शान्त मनः स्थिति में बैठ जाना चाहिए, सभी प्रकार की बाह्य ध्वनियों को कान में प्रविष्ट

होने से रोक देना चाहिये, 'ॐ" की मधुर एवं संगीतमय ध्वनि से (स्वयं उच्चरित करके) सम्पूर्ण वातावरण को गुञ्जायमान कर देना चाहिये और इस नीरव ध्वनि-प्रवाह पर अपना ध्यान पूर्णतः केन्द्रित कर देना चाहिये। इसके बाद उसे क्रमशः इसी ध्वति को बिना उच्चारण किये हुए अपने हृदय के भीतर सुनने का अभ्यास करना चाहिये। फिर उसे अपनी चिन्तनशक्ति द्वारा हृदय में स्थित परम तत्त्व से इस नाद की अभिन्नता स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये और इसी रूप में परम- आत्मा का ध्यान अधिक गहराई से करना चाहिये। यह प्रक्रिया एक ही साथ 'प्रत्याहार' 'धारणा' और 'ध्यान' को समेट लेती है। यह ध्वनि क्रमशः सूक्ष्मतर और मधुरतर तथा सम्पूर्ण चेतनता से अभिन्नतर होती जाती है। अन्ततः ध्वनि और चेतनता एक हो जाती है, अहं-इदम का भेद मिट जाता है और एक ही आनन्दमयी चेतनता रह जाती है। तब यह चेतना, चेतना के दिव्य-स्तर तक पहुँच जाती है और परमतत्त्व 'शिव' से पूर्णतः मिल कर एक हो जाती है।

इस साधना-पथ में आने वाली कठिनाइयाँ प्रायः शरीर के भीतर से आती हैं। जब बाहरी ध्वनियाँ कानों में प्रविष्ट नहीं हो पातीं और मन हृदय के अन्तर्गत 'नाद' पर एकाग्र होने लगता है, साधक अपने भीतर ही क्रमशः अनेक प्रकार की आकर्षक ध्वनियाँ सुनने लगता है। उसे ढोलक का बजना, बादलों की गड़गड़ाहट, छोटी घण्टियों का निनाद, शंखध्वनि, काली मक्खियों की गुन-गुनाहट, बाँसुरी का स्वर, वाइलिन की मधुर ध्वनि इत्यादि सुनाई पड़ते हैं। ये ध्वनियाँ साधक का ध्यान बँटाना चाहती हैं। साधक को इन बाधाओं पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है और अपने हृदय के अन्तरतम प्रदेश में होने वाले वास्तविक अनाहत नाद का अनुसन्धान करना पड़ता है। यह ध्यान रखना होगा कि यह हृदय शरीर के

किसी विशेष भाग में नहीं है। एकाग्र चिन्तन इस भावना से आरम्भ करना चाहिये कि 'अनाहत' नाद' का केन्द्र शरीर के मध्य में अनाहत चक्र में है। ज्यों-ज्यों यह एकाग्र चिंतन गहनतर होता जाता है और मन क्रमशः संस्कृत हो जाता है, हृदय (जो सामान्यतः अनाहत नाद का केन्द्रबिन्दु कहलाता है) उच्च से उच्चतर स्थिति में उठने लगता है, उदाहरणार्थ वह 'विशुद्धचक्र' और 'अज्ञाचक्र' से होता हुआ अन्ततः 'सहस्रसार चक्र' तक पहुँच जाता है जहाँ साधक की प्रबुद्ध चेतना के अन्तर्गत 'नाद' की वास्तविक आत्मा प्रकट होती है और चेतना इसके साथ आनन्दमयी अभिन्नता का अनुभव करती है। चेतना का यह उच्चतम आध्यात्मिक स्तर ही सामान्यतः मानव-हृदय का अन्तरतम प्रदेश कहलाता है। यह शिव और शक्ति की नित्य आनन्दमयी पूर्ण एकता का स्तर है और यहीं आकर नादानुसन्धान अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है। जब चेतना उच्चतम स्थिति के पूर्ण अनुभव से प्रबुद्ध होकर पुनः निम्नतर स्थिति में लौट आती है तब सम्पूर्ण विश्व इसे एक नवीन आध्यात्मिक रूप में अनुभूत होने लगता है। यह विश्व आध्यात्मिक संगीत का मधुर स्रोत प्रतीत होता है; शिव और शक्ति के नित्य अनन्दमय आध्यात्मिक मिलन का प्रतीक ज्ञात होता है।

❋

२०—योगी-सम्प्रदाय के केन्द्र

यह कहा जा चुका है कि अपने महान् प्रयत्नों के बावजूद इतिहासान्वेषक अभी तक गोरखनाथ, उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ तथा सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख योगियों के जीवन-काल के विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं। वे अभी तक यह नहीं बता सके हैं कि किसी समय ये योगी जनता में भ्रमण करते हुए सत्यान्वेषियों को अपने आध्यात्मिक आत्मानुशासन की साधना-विधियों का उपदेश दे रहे थे। यह भी अभी तक निर्धारित नहीं हो सका है कि भारतवर्ष के किस विशेष भूभाग में ये उत्पन्न हुए थे, कौन सी भाषा वे बोलते थे और किस स्थान से उन्होंने अपना महान् आध्यात्मिक आन्दोलन प्रारम्भ किया था। विद्वान् अन्वेषकों के अनुमान इस प्रकार के सभी प्रश्नों पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। जो कुछ भी हो, इस तथ्य में किसी प्रकार का मतवैभिन्य नहीं कि भारत के विभिन्न भागों में चौदहवीं-पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भक्ति-आन्दोलन के महान् नेताओं के प्रादुर्भाव के बहुत पहले हो नाथयोगी-सम्प्रदाय का आध्यात्मिक प्रभाव इस विशाल देश के सभी भागों में छा गया था। यह एक अद्‌भुत शक्तिशाली संगठन था। प्राय: देश में सर्वत्र इसकी यौगिक-संस्कृति के केन्द्र स्थापित थे। इन केन्द्रों में अनेक ने अपना अस्तित्व आज तक कायम रखा है यद्यपि कालक्रम से दुर्भाग्य-वश अधिकांश केन्द्रों में सुयोग्य पुरुषों तथा योग-साधना के सच्चे विद्यार्थियों की आज कमी हो गयी है।

परवर्ती काल के आध्यात्मिक जिज्ञासु क्रमशः दुरूह यौगिक-साधना की ओर से विमुख होने लगे क्योंकि उसके लिए शरीर और मन का विशिष्ट सामर्थ्य अपेक्षित था। वे क्रमशः सरल और भावात्मक भक्ति-सम्प्रदाय की ओर अधिक आकर्षित होने लगे। उदाहरण के लिए वे भक्ति-भावनापूर्ण गीतों के गाने, धार्मिक भावनाओं के अतिरेक के कारण आवेश में आकर रोने और नाचने, भगवन्नाम के जाप इत्यादि में अधिक प्रवृत्त होने लगे। योग-साधना के प्राचीन प्रशिक्षण-केन्द्रों, धामों,मठों, आश्रमों, मन्दिरों में भी शिव, शक्ति, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ तथा अन्य देवताओं और महा-योगियों की धार्मिक विधि से पूजा का प्रचार-प्रसार महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। योगी-साधकों के द्वारा भी भक्ति-साधना अधिकाधिक रूप में ग्रहण की गयी कुछ घरों में वेदान्तिक आधार पर दार्शनिक ज्ञान-साधना की प्रथा है। इस सम्प्रदाय की सभी शाखाओं में ऐसे लोगों की संख्या, जो अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति योग-साधना के नियमित अभ्यास में लगाते हैं, जो इस सम्प्रदाय की विशेषता है, अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह होने पर भी, प्रायः प्रत्येक पीढ़ी के सम्प्रदाय में आध्यात्मिक साधना की उच्चतम भूमि में पहुँचे हुए कुछ महान् योगी प्रादुर्भूत होते रहे हैं और इस प्रकार प्रारम्भिक काल के महायोगी शिक्षकों की गौरवमयी परम्परा जीवित रही है।

इसकी सर्वाधिक सम्भावना है कि प्राचीन 'शिव-आदर्श-भावना' तथा आध्यात्मिक अनुशासन की यौगिक प्रणाली को लोकप्रिय बनाने का प्रथम प्रयत्न हिमालय,प्रदेशों नैपाल,-तिब्बत-में हुआ और फिर सभी दिशाओं में फैल गया। अति प्रचीन काल से हिमालय-प्रदेश के महायोगी सामान्यतः जन जनसाधारण की दृष्टि से बचते हुए कभी-कभी बिना किसी विशेष उद्देश्य के हिमालय के

आबाद क्षेत्रों में घूमा करते थे। इन्हीं क्षेत्रों में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ ने सम्भवतः सर्वप्रथम अपने को सिद्ध महायोगियों के रूप में प्रकाशित किया था और अपनी अद्भुत योग-शक्ति तथा असाधारण आध्यात्मिक उपलब्धियों को प्रत्यक्षतः प्रकट किया था। सम्भवतः इन्हीं स्थानों में वे सर्वप्रथम देव-सदृश पूजे गये थे। अनेक शताब्दियों तक मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ नैपाल के प्रधान देवताओं के रूप में पूजित होते रहे। उनका स्थान सम्भवतः केवल देवाधिदेव पशुपतिनाथ शिव को छोड़ कर अन्य सभी देवताओं से ऊँचा था। नेपाल, तिब्बत, कामरूप और वास्तव में हिमालय-प्रदेश के अधिकांश क्षेत्रों में इन देवतुल्य पूज्य महायोगियों के विषय में अनेक गौरवमयी जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। उनके नाम के अनेक मन्दिर हैं जहाँ उनकी मूर्तियों या प्रतीकों की नियमित पूजा होती है। जनश्रुतियों के साक्ष्य पर यह कहा जाता है कि मत्स्येन्द्र नाथ और उनके बाद उनके शिष्य गोरखनाथ छठवीं शताब्दी के प्रारम्भमें नेपाल में प्रकट हुए थे और एक भयंकर प्राकृतिक आपत्ति से जनता की रक्षा की थी। गोरथ नाथ जो में प्रगाढ़ भक्ति होने के कारण ही गोरखा जाति को यह नाम दिया गया। किन्तु नेपाल और तिब्बत की प्राचीनतम जनश्रुतियाँ भी यह दावा नहीं करती कि ये महायोगी जन्म से इनमें से किसी प्रदेश से सम्बन्धित थे। कोई नहीं जानता कि वे असाधारण व्यक्तित्व रखने वाले सिद्ध योगी जो स्वभाव से इतने शान्त और निश्चल थे, जो सभी प्रकार की चिन्ताओं, इच्छाओं और अहंकारों से रहित थे रहित थे और साथ ही जिनमें प्रकृति की शक्तियों को नियन्त्रित करने तथा बिना किसी प्रयत्न या इच्छा के आश्चर्यजनक कार्यों के सम्पादन की अद्भुत शक्ति थी, सामान्यतः कहाँ रहते थे, कहाँ से आये थे और कहाँ उनकी प्रारंभिक आध्यात्मिक शिक्षा

हुई थी। लोग इन तथ्यों के निश्चय में कल्पना से काम लेते हैं और अनेक प्रकार की कहानियाँ गढ़ते रहे हैं।

सम्भावना इस बात की है कि तिब्बती-नेपाली क्षेत्र से ही योग-साधना का आन्दोलन पूरब, पश्चिम, दक्षिण तथा इस विशाल देश के सभी भागों में फैला था। इस आन्दोलन ने हिमालय का सन्देश मैदानीभाग के निवासियों तक पहुँचाया। पूरब में यह शीघ्रता से कामरूप (आसाम), बंगाल, मनीपुर तथा अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों में फैल गया। पश्चिम में यह काश्मीर; पञ्जाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश, यहाँ तक कि काबुल और फारस तक पहुँच गया। उत्तरप्रदेश हिमालय के अत्यधिक निकट होने के कारण इन महायोगियों के जीवन और शिक्षा से अत्यधिक प्रभावित हुआ। दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व में, गोरखनाथ तथा अन्य नाथ-योगियों की शिक्षा तथा उनकी आश्चर्यजनक शक्ति—सम्बन्धी कहानियाँ क्रमशः प्रचार पाती रहीं और धीरे-धीरे इस धार्मिक देश के कोने-कोने में फैल गयीं।

इन महायोगियों के जीवन और शिक्षाओं का मार्मिक प्रभाव अवश्यम्भावी था। सर्वत्र इन लोगों ने जनता के जीवन में नवजीवन का संचार किया; उनमें आध्यात्मिकता तथा मर्यादा की नवीन भावना जाग्रत की, उनकी चेतना में आत्मतत्त्व और सांसारिक वातावरण के प्रति नवीन दृष्टि का द्वार मुक्त किया। जहाँ कहीं वे योगी जाते थे, ऐसा समझा जाता था मानों साक्षात् शिव अवतरित होकर अपने ही द्वारा सर्जित जीवों में विचरण कर रहे हैं। वे लोग अपने बीच शिव की उपस्थिति का अनुभव करके प्रेरणा प्राप्त करते थे। सच्चे आध्यात्मिक जिज्ञासु अपने सांसारिक सम्बन्धों का त्याग करके तपस्या का जीवन स्वीकार करते थे और गुरुओं के द्वारा शिक्षित

योग के सभी अंगों के गहन अभ्यास में अपने। को लगा देते थे सांसारिक सम्बन्धों में फँसे हुए तथा पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों की भावना से युक्त व्यक्ति-आध्यामिक सिद्धान्तों के अनुसार अपने क्रियाशील जीवन का नियमन करना सीखते थे ताकि अपनी भावनाओं, सम्मानों और इच्छाओं को संयमित कर सके और इस प्रकार अपेक्षाकृत उसी प्रकार की योग-विधियों का आभ्यास कर सके तथा अपने सांसारिक कर्तव्यों को विश्वात्मा की पूजा मान कर सम्पन्न कर सकें।

इन विचरणशील योगियों की शिक्षाओं का एक विशिष्ट परिणाम यह हुआ कि इस विशाल देश के सभी भागों में, महायोगियों के द्वारा ध्यान की गहनतम स्थिति में अनुभूत उच्चतम आध्यात्मिक सत्य से परे सभी वर्गों के व्यक्तियों का समानाधिकार हो गया। समाज के निम्नतम स्तर से आने वाले सीधे-सादे भोले व्यक्ति भी, जो उच्चवर्ग के द्वारा सामान्यतः अछूत समझे जाते हैं और पृथक् रखे जाते हैं; इन स्वच्छन्द विचरण करने वाले जाति-वग-विहीन प्रवृद्ध योगियों के निकटतम सम्पर्क से वंचित न रह सके। पहाड़ों और जंगलों के अर्ध सभ्य और असभ्य व्यक्तियों को भी इनसे स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। ये विचरणशील योगी लोग, तथाकथित शिष्ट समाज के नियमों में आबद्ध न होने के कारण सभी प्रकार की मानवजातियों में स्वच्छन्दतापूर्वक जाते थे, उनके हृदय पर सरलतापूर्वक अधिकार जमा लेते थे, जहाँ कहीं आवश्यक होता था, उनके हाथ से भोजन ग्रहण कर लेते थे, उन्हें उनकी सेवायें भी सुलभ थीं और वे बिना किसी प्रकार की हिचक के वास्तविक आध्यात्मिक धर्म के विश्वजनीन सिद्धान्तों को भी उन पर प्रकट कर देते थे। इन योगियों के अनुग्रह से भारतवर्ष के सभी

पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को यह भली प्रकार ज्ञात हो गया कि सभी जीवों में एक ही ईश्वर की सत्ता व्याप्त है, प्रत्येक जीव की वास्तविक आत्मा 'शिव' है, प्रत्येक मानव, चाहे वह किसी भी जाति-उपजाति, पेशा या योग्यता का क्यों न हो, इसी जीवन में ईश्वर तक बिना किसी बाधा के पहुँच सकता है यदि वह सच्चाई और ईमानदारी के साथ ईश्वर में विश्वास, भक्ति और प्रेम करता रहे और उसे स्वयं अपने में तथा अन्य सभी जीवों में देके हमारी सभी प्रकार की प्रसन्नतायें और दुःख, हमारा सांसारिक भाग्य और दुर्भाग्य और वस्तुतः संसार के सभी क्रियाकलाप वास्तव में ईश्वर द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं' जो सर्व बुद्धिमान और सर्वप्रकार से अच्छा है। सभी लोगों में यह भावना व्याप्त है कि हम भगवान की दुनिया में रहते हैं और वह सब मे और सर्वत्र विद्यमान है यद्यपि हम उसे अपने अज्ञान तथा क्षणिक और सीमित वस्तुओं के प्रति अनुरक्ति के कारण नहीं देख पाते।

योगी गुरुओं के इन आध्यात्मिक उपदेशों से जनता के जीवन में जिस शक्ति का संचार हुआ उससे प्रान्तीय भाषाएँ भी अत्यधिक पुष्ट हुईं। जनता की भावना और कल्पना नवीन शक्ति के संचार से क्रियाशील हो उठी। प्रत्येक प्रान्त में काव्य और नाट्य-साहित्य का विकास हुआ जिसमें न केवल इन प्रसिद्ध योगियों के अतिमानवीय चरित्रों और आश्चर्यजनक कार्यों को आलाँकारिक आवरण में उपस्थित किया गया वरन् उनके द्वारा अनुभूत और उपदिष्ट, उन्नत एवं गूढ़, नैतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों को भी सरल और प्रभावोत्पादक रूप में प्रचारित किया गया। प्राचीनतम बंगाली, हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी साहित्य तथा अन्य अनेक प्रान्तों की प्राचीनतम साहित्यिक कृतियाँ, जो अब तक प्रकाश में आ सकी हैं, नाथ-योगियों के द्वारा प्रेरित है और वे गोरखनाथ तथा अन्य

प्रसिद्ध योगियों और उनके उल्लेखनीय शिष्यों सम्बन्धी आख्यानों से भरी हुई हैं। उनमें यौगिक सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है। इन प्रान्तीय साहित्यों में से अनेक दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में विकसित प्रतीत होते हैं। इस प्रकार अनेक प्राचीन साहित्यिक कृतियाँ जो यद्यपि विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों में लिखी गयी हैं, यह दावा करती हैं कि उनमें इन महान् शिक्षकों के उपदेश अक्षरशः उन्ही की भाषा में सुरक्षित और अभिव्यक्त हैं। नाथ-योगियों की आध्यात्मिक अनुभूतियों के आधार पर प्रबुद्ध जन-वर्ग में दार्शनिक मान्यताएँ भी विकसित हुई। काश्मीर का शैव-दर्शन भी इन योगी गुरुओं के उपदेशों से अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त कर सका। ऐसी ही प्रेरणा बंगाल के तान्त्रिक दर्शन को भी मिली।

नाथ योगियो ने मठों मन्दिरों और आश्रमों आदि की स्थापन सम्पूर्ण देश में की, उन्हे यौगिक संस्कृति का केन्द्र बनाया। उन्होंने सीधे मार्ग में न पड़ने वाले क्षेत्रों में स्थित अनेक तीर्थो के महत्व की पुनर्प्रतिष्ठा की और बहुत से नवीन तीर्थों की स्थापना की। काश्मीर के बर्फानी क्षेत्र में पवित्र अमरनाथ, विलोचिस्तान में हींगलाज का मन्दिर, पेशावर में गोरक्ष-क्षेत्र, पंजाब में गोरखटीला, नेपाल में पशुपतिनाथ, पूर्वी बंगाल के चीटगाँग पहाड़ों पर चन्द्रनाथ, स्वयम्भू-नाथ और बिरूपाक्षनाथ, बंगाल की खाड़ी में महेशरवली द्वीप में आदिनाथ तथा अन्य अनेक तीर्थ स्थान मुख्यतः नाथ-योगी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। काबुल, कोहाट और जलालाबाद में बहुत बड़े-बड़े मन्दिर गोरखनाथ जी को समर्पित थे। पालमपुर के निकट गोरख-नाथजी का एक पवित्र मन्दिर है जिसके विषय में अनुश्रति चली आ रही है कि यहीं से गोरखनाथ जी रहस्यात्मक ढंग से गायब हो गये थे। लाहौर, अमृतसर, अम्बाला, हरिद्वार, नैनीतःल, तथा

इसी प्रकार के अन्य अनेक स्थान यौगिक संस्कृति के केन्द्र थे। पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में शायद ही कोई जिला हो जहाँ इस सम्प्रदाय का मन्दिर या धामघर न हो। कलकत्ता के निकट दमदम का गोरखवंशी अब भी एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है।

राजस्थान, मध्यप्रदेश, काठियावाड़, कच्छ, गुजरात, महाराष्ट्र आन्ध्र करनाटक, मैसूर तथा दक्षिणी भारत के सभी भागों में नाथ-योगी सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे और बहुत से स्थानों में अब भी हैं। आज भी ऐसी बहुत सी जातियाँ-उपजातिाँ हैं जो गोरखनाथ जी को अपना परम देवतामान कर पूजती है और उनके द्वारा दिये गए उपदेशों और सिद्धान्तों का, बिना किसी प्रकार की शंका या तर्क के, अनुकरण करती है। बंगाल में जनता का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है जो जाति से 'योगी' या 'नाथ' कहलाता है और जो अपने सामाजिक जीवन में बहुत दूर तक नाथयोगी सम्प्रदाय के रीति-रिवाजों का अनुसरण करता है। भारतवर्ष के अन्य दूसरे भागों में भी ऐसी जातियाँ-उपजातियाँ हैं जो अपने को 'योगी' या 'नाथ' कहलाती हैं। इन योगियों और नाथों का इतिहास एक हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। उनके धार्मिक कर्मकाण्ड और संस्कार पुरातनपंथी ब्राह्मणों के द्वारा नहीं सम्पादित होते, वरन् इसी जाति के योग्य और पवित्र व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। कुछ प्रख्यात विद्वानों के अनुसार उत्तरी भारत के सभी जुलाहे मुस्लिम-पूर्व काल में गोरखनाथ जी के अनुयायी थे। मुस्लिम विजेताओं द्वारा इनका सामूहिक धर्म—परिवर्तन किया गया था। धर्म-परिवर्तन के शताब्दियों बाद तक उनमें योगियों की अनेक परम्परायें और मान्यतायें प्रचलित थीं। सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में अनेक मठ, धामघर, शिवस्थान, देवी स्थान इत्यादि प्रख्यात महायोगियों द्वारा स्थापित किये गये जहाँ योग-विचारधारा तथा आध्यात्मिक अनुशासन की यौगिक-प्रणाली का सक्रिय प्रचार किया जाता था।

गोरखपुर का गोरखनाथ-मंदिर

उत्तरी भारत के समस्त नाथ-योगियों के मन्दिरों और मठों में गोरखनाथ मन्दिर का विशिष्ट स्थान है। परम्परा से ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह मन्दिर ठीक उसी स्थान पर स्थित है जहाँ योगिराज गोरक्षनाथ ने बहुत दिनों तक गहन समाधि लगाई थी। यद्यपि मुसलिम शासन-काल वे अनेक बार प्रतिकूल परिस्थितियाँ उपस्थित हुई किन्तु यह मन्दिर सदियों से बराबर योगिक संस्कृति का जीवित् केन्द्र बना रहा है। जब नाथ-योगी-सम्प्रदाय के महान प्रवर्तक ने अपनी अलौकिक आध्यात्मिक गरिमा से इस स्थान को पवित्र किया था, यहाँ के लोग असभ्य थे। जनसंख्या बहुत ही कम थी और यह एक जंगली क्षेत्र था। उस महान योगी ने इसी विशिष्ट भूमि को अपनी साधना का केन्द्र क्यों बनाया ? यह वही जानता था। जैसा कि स्वाविक था इस क्षेत्र के भोले भाले व्यक्ति उस दिव्य साधक के प्रति आकर्षित होने लगे। यद्यपि योगिराज गोरखनाथ साधना की सहज स्थिति में सांसारिक भाव-भूमि से परे रहते थे और आस पास की भौतिक गतिविधि पर ध्यान नहीं देते थे फिर भी साधारण जनता स्वत: उनके प्रति श्रद्धावनत होने लगी और यदि किसी समय वे उसे सहज स्नेह से देखकर किसी प्रकार की सांसारिक सेवा स्वीकार लेते थे तो वह अपने को भाग्यशाली मानती थी।

उस दिव्य विभूति की उपस्थिति ने इस क्षेत्र के पूरे वातावरण को आध्यात्मिक बना दिया। यहाँ की सीधी सच्ची जनता में एक प्रकार की गत्यात्मक आध्यात्मिक चेतना उद्‌बुद्ध हुई। उन्हें अनुभव

होने लगा कि महायोगीश्वर शिव कृपापूर्वक मानव रूप में उनके बीच उपस्थित हुए हैं। वे उन्हें शिव-गोरख के रूप में पूजने लगे। उनकी दिव्यता की गाथा एक-दूसरे से होती हुई विभिन्न दिशाओं में विस्तृत होने लगी। बहुत से सच्चे सत्यान्वेषी उनकी सेवा में उपस्थित होकर उनकी कृपा की याचना करने लगे। उनकी अलौकिक जीवन-चर्या और सरल शिक्षा सच्चे आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को त्याग, तपस्या और योग-साधना की प्रेरणा देने लगी। उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से स्वतः यहाँ एक साधनाश्रम सा बन गया। उनकी अनुकम्पा से उनके शिष्य आध्यात्मिक जागरण के पथ पर आश्चर्यजनक प्रगति करने लगे। ये सफल शिष्य ही विभिन्न क्षेत्रों में उनकी आध्यात्मिक शिक्षाओं के प्रचारक बन गये। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में मठो और आध्यात्मिक शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना की। इस प्रकार गोरखपुर की साधना-भूमि अनेक सांस्कृतिक केन्द्रों की मूल प्रेरक साधना-स्थली बन गयी।

यद्यपि इस मठ के महान् स्वामी का भौतिक अस्तित्व मठ की स्थापना के कुछ दिन बाद ही विलुप्त हो गया, परन्तु उनके आध्यात्मिक अस्तित्व का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता रहा। ये विश्वास लोगों के हृदय में घर कर गये कि वे मनुष्य रूप में स्वयं भगवान शिव थे, वे जन्म और मृत्यु के बन्धनों से परे हैं, उनका भौतिक प्रतीत होने वाला शरीर भी भौतिक एवं जीव-विज्ञान सम्बन्धी सामान्य नियमों से परे है, वे निमिष मात्र में इस प्रकार के अनेक शरीर उत्पन्न कर सकते हैं और स्वेच्छा से जब चाहें, इन शरीरों को दृश्य या अदृश्य बना सकते हैं, ये सारी क्रियायें उनके लिए लीला मात्र हैं जिनका विस्तार वे मानव-कल्याण के लिए ही करते हैं। वे अमर और सर्वव्यापी समझे जाते थे। मठ का आध्यात्मिक प्रभाव-क्षेत्र उत्तरोत्तर विकसित होता गया।

धीरे-धीरे इस पूरे क्षेत्र का भौतिक उत्थान भी हुआ जिसे लोगों ने उनकी कृपा का ही फल समझा। यहाँ से लेकर नेपाल तक के पूरे क्षेत्र का जन-समुदाय गोरक्षनाथ के नाम से प्रेरणा प्राप्त करता था। आगे चलकर उन्हीं के नाम पर इस जिलों तथा उसके केन्द्र का संगठन किया गया।

यद्यपि यह मठ संसारत्यागी ईश्वरान्वेषी साधकों की संस्था था जिसका देश के राजनैतिक एवं आर्थिक मामलों से कोई सम्बन्ध न था, फिर भी मुसलिम शासन-काल में हिन्दुओं और बौद्धों के अन्य सांस्कृतिक केन्द्रों की भाँति इसे भी कई बार भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके व्यापक प्रभाव एवं प्रसिद्धि के कारण ही कदाचित् शत्रुओं का ध्यान इधर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। ऐसा कहा जाता है कि एक बार अलाउद्दीन के शासन-काल में यह मठ नष्ट किया गया था और साधक योगी बलपूर्वक निष्कासित किये गये थे। किन्तु जनता के हृदय से गोरखनाथ का निष्कासन न हो सका। मठ का पुनर्निर्माण किया गया; साधक योगी पुनः लौट आये और इस क्षेत्र में यौगिक संस्कृति का यह पुनः प्रधान केन्द्र बन गया। इस केन्द्र से पर्याप्त संख्या में गहन आध्यात्मिक अनुभूति रखने वाले तथा अलौकिक यौगिक शक्ति से सम्पन्न ऐसे महान् योगी प्रादुर्भूत हुए जिनका आध्यात्मिक प्रभाव पूरे देश में व्याप्त था। औरंगजेब के जमाने में इस मठ ने शत्रुओं का ध्यान पुनः आकृष्ट किया और फलस्वरूप नष्ट कर दिया गया। शिव-गोरख के अनुग्रह से यह मठ अमरत्व प्राप्त कर गया था। परवर्ती काल में इस मठ को अवध के मुसलमान शासक की कृपा से पर्याप्त भू-सम्पत्ति प्राप्त हुई थी किन्तु औरंगजेब के शासन-काल में इसे पुनः नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि शिव-गोरख के वरदान ने ही इस संस्था को अमरत्व प्रदान कर दिया

था। इसने सभी प्रकार की आपत्तियों को सहन किया और विकसित हुई। परवर्ती काल में इस मठ को अवध के एक नवाब के द्वारा देवता की नियमित पूजा और भ्रमणशील योगियों की सेवा के लिए पर्याप्त भू-सम्पत्ति प्राप्त हुई।

मठ का प्रधान मंदिर जिस रूप में आज स्थित है, निश्चय ही पुराना नहीं है। इसकी पूरी सम्भावना है कि मन्दिर का पुनर्निर्माण बार-बार कराना पड़ा होगा। किन्तु ऐसा विश्वास है कि वह पवित्र स्थली जहाँ गोरखनाथ जी ने साधना की थी, कभी भी नहीं छोड़ी गयी और प्रत्येक बार पुनर्निर्मित होने पर मन्दिर उसी पवित्र स्थान पर ही स्थित किया जाता रहा। इस पवित्र मन्दिर की एक ध्यान देने वाली विशेषता है। मन्दिर के मध्य में एक विस्तृत वेदी है जो गोरखनाथजी के पवित्र आसन का प्रतीक है और निर्धारित विधि के अनुसार नियमपूर्वक प्रतिदिन उसी स्थान पर धार्मिक पूजा की जाती है। किन्तु वहाँ पर गोरखनाथ जी की या शिव की कोई अभिषिक्त मूर्ति नहीं है। प्रत्यक्षतः यह एक खाली स्थान है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह आदर्श और परम सत्य को प्रकट करता है जिसके लिये प्रत्येक योगी से आशा की जाती है कि वह पूजा के समय स्मरण और मनन करेगा। एक योगी के ध्यान और पूजा का परम उद्देश्य परम आत्म-तत्त्व का चिन्तन और मनन है और इस 'तत्त्व' का न तो कोई रूप है और न नाम है। वह सम्पूर्ण सत्ता की पूर्ण एकता का मूलाधार है। वह 'जीव' और 'शिव' 'व्यक्ति' और 'समष्टि', 'अहं' और 'इदम्', 'पदार्थ' और 'चेतना', मन और 'दिव्य मन' की एकता है। वह अभेदात्मक है। वह परम शून्य और परम पूर्ण है। उसमें अस्तित्व और अनस्तित्व की एकता है। पूजा का आदर्श रूप यह है कि आराधक का हृदय इस 'परम एकत्व' की भावना से भर जाय और आन्तरिक दृष्टि से परमात्मतत्त्व से

अभिन्न हो जाय। इस परम एकता की पूर्ण अनुभूति करने वाला हृदय 'नाथ' 'अवधूत' या 'सिद्ध' का हृदय है। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में नाथ का चारित्रिक स्वरूप इस प्रकार वर्णित है :—

निर्गुणं वाम भागे च लब्ध भागे अद्भुजानिजा
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः।
वाम भागे स्थितः शम्भुः सत्ये विष्णुस्तथैव च
मध्ये नाथः परं ज्योतिस्तद् ज्योतिः मत्तमोहरम् ॥

"मैं उस नाथ को नमन करता हूँ जिसके वाम भाग में निर्गुण ब्रह्म स्थित है, जिसके दक्षिण भाग में अज्ञेय आत्म-शक्ति (विश्वप्रपञ्च का गत्यात्मक आधार) है और जो मध्य में स्वयं पूण स्थिति में है अर्थात् अपनी पूर्ण ज्योतिर्मय आत्मचेतना की स्थिति में परमात्मा के दोनों रूपों का आलिङ्गन किये हुये है) 'शम्भु' या 'शिव' उसके बायें भाग में हैं और 'विष्णु' उसके दक्षिण भाग में हैं और 'नाथ' उनके बीच परम ज्योति के रूप में विद्यमान हैं। (अर्थात् अपने में दोनो के व्यक्तित्व को एक किये हुए स्थित है) यह परम ज्योति हमारे अज्ञान के अन्धकार को दूर करे। निर्गुण ब्रह्म और विश्व-प्रपञ्च की मूलाधार शक्ति, सर्व-निरपेक्ष शिव और सर्वव्यापक विष्णु ये सभी 'नाथ' की पूर्ण ज्यतिर्मय परम चेतना में एक साथ एकान्तर हो गये हैं। श्री नाथ जी मन्दिर के प्रधान देवता हैं, वे ही योगी-गुरु हैं। अज्ञानता के अंधकार को नष्ट करने के लिये उनसे प्रार्थना की जाती है।

मन्दिर के अन्तर्वर्ती भाग में 'अखण्ड ज्योति' और 'वेदी' इन दो

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ मूर्तियाँ भी है। शिव के असीम वक्षस्थल पर शाश्वत नृत्य करती हुई काली माता की मूर्ति है। योग-पद्धति के दार्शनिक आधार का थोड़ा ज्ञान रखने वाले को भी इस पवित्र मूर्ति का आध्यात्मिक महत्त्व स्पष्ट हो जायेगा। यह कहा जा चुका है कि 'शिव' परमतत्त्व का निरपेक्ष स्पष्ट स्वरूप प्रकट करता है और काली माता या जगत् का सृजन करने वाली परम शक्ति उसके गत्यात्मक स्वरूप को प्रकट करती है। इसे ही महा कुण्डलिनी या महामाया कहते हैं। आत्मज्योतित सर्वनिरपेक्ष स्वरूप (शिव) को अपना मूलाधार बनाकर यही गत्यात्मक स्वरूप (शक्ति) अपने को शाश्वत रूप से अनेक रूपों तथा काल और स्थिति में अभिव्यक्त करता है। 'काली' शिव का ही गतिशील रूप है। 'शिव' के वक्षस्थल पर 'काली' का नृत्य प्रकट करता है कि सतत परिवर्तित विविधताओं से युक्त यह सम्पूर्ण विश्व एक ही अपरिवर्त्तनशील परमतत्त्व की अभिव्यक्ति है जो इसके सभी बाह्य रूपों के मूल में अधिष्ठित है। सभी प्रकार के परिवर्त्तनो, सभी प्रकार की विविधताओं, जन्म और मृत्यु के बन्धनों, सभी प्रकार की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों, सभी प्रकार के संघर्षों और अभिनन्दनों, सभी गुण-दोषों—जिनमें महाशक्ति काली अपने को व्यक्त करती हैं—शिवतत्त्व की अन्तर्निहित आनन्दमयी एकता शाश्वत रूप से समरस (अविक्षुब्ध) रहती है। विश्व का सृजन करने वाली माता (आदि शक्ति) सभी सत्यान्वेषियों को प्रेरित करती है कि वे सभी क्षणिक और सीमित अस्तित्वों के मूलाधार रूप में शिव तत्त्व को देखें; वे अनेक में एक की: परिवर्त्तनशीलों में अपरिवर्त्तनशील की, सीमा में असीम की, द्वैत में अद्वैत की अनुभूति करें। 'काली' की उपासना का तात्पर्य अहं (आत्म तत्त्व) तथा इदम् में शिव तत्त्व का अनुभव करता है। अतएव 'योग-साधक' की दृष्टि से इसका विशिष्ट महत्त्व है।

मन्दिर में एक ओर गणेश या गणपति की मूर्ति स्थापित है। गणेश भारतवर्ष के सर्वाधिक लोकप्रिय देवताओं में एक रहे हैं। उनका सर हाथी का तथा पेट बहुत बड़ा बनाया जाता है, उनकी आँखे भीतर की ओर देखती रहती हैं और वे सदैव एक आदर्श योगी की भाँति ध्यान की मुद्रा में रहते हैं। इन्हें 'शिव' और 'शक्ति' का पुत्र माना जाता है। अर्थात् परमतत्त्व के निरपेक्ष और गत्यात्मक दोनों स्वरूपों की एकता की आत्म-अभिव्यक्ति गणपति के व्यक्तित्व में प्रकट रूप से पशुता रहती है किन्तु यह उनके आन्तरिक स्वभाव में आध्यात्मिकता का रूप ले लेती है।

वे जनता के देवता माने जाते हैं बुद्धि के देवता समझे जाते हैं और सांसारिक वैभव, शाश्वत शान्ति तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की सिद्धियों के देवता भी माने जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे संसार की इन सभी अप्रत्यक्ष शक्तियों के शासक हैं जो सफलता के मार्ग में अज्ञात रूप से भयंकर बाधा उत्पन्न कर सकती हैं यदि साधक किसी दुर्भावना के कारण उनकी उपेक्षा कर जाता है किन्तु वे ही मार्ग की सभी कठिनाइयों को दूर करके सिद्धि को निकट ला देती है यदि साधक मन, वाणी और कर्म की पवित्रता तथा सदाचार के अभ्यास से उन्हें अपने अनुकूल कर लेता है। वे जनता के देवता हैं जो उन्हें भाग्य-विधाता के रूप में देखती है क्योंकि वे ऐसी अप्रत्यक्ष शक्तियों के शासक हैं जिनकी अनुकूलता पर ही जनता का भाग्य निर्भर करता है। योगियों के लिए वे आदर्श महायोगी हैं जो प्रकृति और नियति की सभी शक्तियों पर शासन तथा सभी प्रकार के लोगों पर अनुग्रह करते हुए भी सदैव अपने में ही तुष्ट रहते हैं, सदैव पूर्ण शान्त रहते हैं सदैव ध्यानावस्थित रहते हैं और सदैव अपनी अन्तश्चेतना को शिव-शक्ति संयुक्त रखते हैं। ऐसा समझा जाता है कि गणेशजी ही 'शिव'-शक्ति के अन्तःपुर के द्वार-रक्षक हैं।

मन्दिर में महावीर हनुमान को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ऐसा माना जाता है कि उनका भौतिक शरीर एक बन्दर का है किन्तु भक्ति और योग के गहन और पूर्ण अभ्यास से वह दिव्य, अमर और आध्यात्मिक हो गया है। हनुमान जी की सारे भारतवर्ष में देवता के रूप में पूजा होती है क्योंकि उनकी मूर्ति हमारे सामने पशुता पर आध्यात्मिकता की पूर्ण विजय का ज्वलन्त उदाहरण है तथा सबको प्रकाशमान करने वाली और सबको दिव्यता प्रदान करने वाली योग-शक्ति के बल से पशु शरीर को भी आत्म-तत्त्व की दिव्य अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्तित कर सकने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हनुमान जी एक आदर्श 'योगी', एक आदर्श, 'भक्त', एक आदर्श त्यागी तथा एक आदर्श ज्ञानी हैं। ऐसा कहा जाता है कि हनुमान जी ने अपने में ऐसी आश्चयकारी अलौकिक शक्ति का विकास कर लिया है कि वे एक ही उछाल में समुद्र फाँद सकते हैं, पीठ पर पहाड़ लेकर बहुत दूर तक उड़ सकते हैं, अपने शरीर को स्वेच्छापूर्वक भीमाकार या अणुरूप बना सकते हैं; किन्तु इतनी शक्ति होने पर भी उनमें अहंकार का लेश भी नहीं है, 'मैं' और 'मेरा' की भावना ही नहीं है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को परमतत्त्व-राम-के निकट पूर्णतः समर्पित कर दिया है। उन्होंने सभी प्रकार की शक्तियों का अतिक्रमण कर जाने की शक्ति प्राप्त कर ली है और उनकी चेतना में सर्वतोभावेन परमतत्व-राम-स्थित है। 'योग' का यही आदर्श रूप है।

अति प्राचीन काल से 'त्रिशूल' शिव का विशिष्ट अस्त्र समझा जाता रहा है और इसीलिए यह शिव भावना का प्रतीक माना जाता है। इसी अस्त्र की तीनो नोकों से महायोगीश्वर शिव ने त्रिपुरासुर का वध किया था जिसने मृत्यु को भी अस्वीकार कर दिया था और 'त्रिपुर' में चुपचाप निवास करता था। असुर वैयक्तिक 'अहं-

कार' का प्रतीक है और 'त्रिपुर' से तात्पर्य क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से है जिसमें अहंकार की स्थिति होती है। स्थूल भौतिक शरीर के विनाश से 'अहंकार' का विनाश नहीं होता, यह अपने को सूक्ष्म शरीर में छिपा लेता है और पुनः अपने कर्मों का फल भोगने के लिए तथा नवीन कर्म करने के लिए दूसरा स्थूल भौतिक शरीर ग्रहण कर लेता है। किसी प्रकार के पुण्य-कर्म से 'अहंकार' का विनाश सम्भव नहीं है और न इसे कर्म और भोग के बन्धन से ही छुटकारा मिल सकता है। त्रिशूल की तीनो नोकें क्रमशः वैराग्य (शरीर तथा सभी प्रकार के सांसारिक सम्बन्धों से पूर्ण उदासीनता) ज्ञान (परमतत्त्व की अनुभूति) और समाधि (आत्म चेतना का परम तत्त्व में पूर्ण विलय) हैं। यह त्रिशूल वस्तुतः योग का प्रतिनिधित्व करता है। योग ही आत्म चेतना को पूर्ण ज्योतिर्मान कर सकता है, त्रिविध शरीर–स्थूल, सूक्ष्म और कारण—से आत्मतत्त्व के अनिवार्य सम्बन्ध को नष्ट कर सकता है, आत्मा को सभी प्रकार के बन्धनों, सीमाओं और दुःखों से मुक्ति दिला सकता है और अन्ततः इसे परमतत्त्व से एकाकार कर सकता है। त्रिशूल की उपासना 'वैराग्य', 'ज्ञान' और 'समाधि' के गहन अभ्यास की ओर संकेत करती है। इसीलिए मन्दिर के सामने बहुत से त्रिशूल खुले आकाश के नीचे गड़े हुए हैं जो योग की साधना करने वाले जिज्ञासु साधक को उसके आदर्श का स्मरण कराते रहते हैं।

मन्दिर के एक तरफ सतत रूप से अग्नि प्रज्वलित है जिसमें सांसारिक पदार्थों की आहुति दी जाती है। यह धूनी भी मठ की शाश्वत विशिष्टताओं में से है। इससे संकेत मिलता है कि बन्धनों और दुःखों से मुक्ति की कामना रखने वाले साधक के हृदय में वैराग्य का अग्नि सतत रूप से प्रज्वलित रहना चहिये। सभी प्रकार की इच्छायें और लगाव,

सभी प्रकार की अपवित्रतायें और अस्थिरता वैराग्य की अग्नि में जल जाना चाहिये। इस साधना से संसार के सभी प्रकार के विरोधों और विविधताओं की परिणति 'शून्यता' में हो जानी चाहिये। संसार की विविध वस्तुयें, जिनका सांसारिक जीवन में विविधात्मक मूल्य होता है, अग्नि में जलकर राख की स्थिति में एकाकार हो जाती हैं और यह राख सांसारिक दृष्टि से व्यर्थ मानी जाती है। योगी इसी राख से अपने शरीर को आभूषित करते हैं क्योंकि यह राख विविध नाम-रूपों और मूल्यों के विनष्ट हो जाने पर उनमें अन्तर्निहित आन्तरिक एकता को प्रकट करती है। एक महायोगी एक प्रकार से बहुत बड़ा विनाशक है क्योंकि अपनी ज्योतित चेतनता के कारण वह सभी प्रकार की विविधात्मकता परमतत्त्व को एकत्वानुभूति के रूप में ग्रहण करता है। 'शिव' जी सभी योगियों के आदि गुरू और देवाधिदेव हैं, विनाश के देवता माने जाते हैं क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित साधक का वास्तविक कर्तव्य संसार की सभी वस्तुओं की आध्यात्मिक एकता का प्रकाश करना है या यों कह सकते हैं कि सभी विविधात्मक वस्तुओं का विलय परमतत्त्व की निरपेक्ष एकता में होता है, उसे इस सत्य की अनुभूति करानी चाहिए। शिव जी अपने पूरे शरीर में 'विभूति' रमाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उनकी आत्मा संसार के सभी पदार्थों की एकता की भावना से प्रकाशित है।

मठ की सीमा के अन्तर्गत ही श्मशान भूमि है जहाँ मृत योगियों के भौतिक शरीर का दाह संस्कार सम्पन्न होता है, जिनकी अमर आत्मायें मानो उन्हें इसी मिट्टी में मिलने के लिए ही छोड़ जाती हैं। देव-मन्दिर के ठीक सामने ही श्मशान-भूमि की यह स्थिति सभी लोगों को सतत रूप से सांसारिक जीवन के अन्त की अनिवार्यता तथा सभी भौतिक एवं सांसारिक उपलब्धियों एवं अधिकृत वस्तुओं

की व्यर्थता की सूचना देती रहती है। यह दृश्य वैराग्य-भावना को तीव्र कर देता है और साधक के ध्यान को असीम शाश्वत परम तत्व की ओर लगा देता है जिसके प्रति एकान्त निष्ठा से ही जीवन कृतार्थ हो सकता है और आत्मा को आनन्दमयी अमरता प्राप्त हो सकती है। देव-मन्दिर और श्मशान-भूमि दोनों अपने अस्तित्व से संसार के सामने असीम, शाश्वत आनन्दमय, आध्यात्मिक अस्तित्व तथा ससीम, क्षणिक, दुःखमय भौतिक अस्तित्व की विरोधात्मकता को प्रकट कर देते हैं और उन्हें अवसर देते हैं कि दोनों में जिसे ठीक समझो, चुन लो। श्मशान-भूमि भौतिकता तथा संसार की नश्वरता प्रकट करती है और देव-मन्दिर आत्मा के लोक तथा अमरत्व की भूमि का आभास देता है। योग-मार्ग श्मशान-भूमि की ओर ले जाता है और योग-मार्ग देव-मन्दिर की ओर अग्रसर करता है। श्मशान-भूमि जीवों के सभी भेदों को मिटाकर उन्हें मृतक-भूमि के रूप में एकाकार कर देती है, वहाँ जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती, आत्मायें (जिन्हें भ्रम वश सूक्ष्म शरीर के रूप में समझा जाता है) अपूर्ण मनोकामनाओं के कारण यन्त्रणा सहन करती रहती हैं। मन्दिर सभी प्रकार के भेदों को आत्मा की आनन्दमयी एकता के रूप में परिणत कर देता है। यही जीवन की कृतार्थता है। आत्मा शिव-रूप समझी जाती है; जब आध्यात्मिक प्रकाश सभी प्रकार के भ्रमात्मक भेदों को नष्ट कर देता है और सत्ता मात्र की एकता उद्घाटित करता है तभी 'शिव' अपनी पूर्ण ज्योति में प्रकाशित होता है।

इस मठ ने कई शताब्दियों से स्थित है और इसने सहस्रों व्यक्तियों को आध्यात्मिकता के पथ की ओर आकर्षित किया है। इस मठ से प्रख्यात योगियों की एक लम्बी परम्परा सम्बद्ध है। इन योगियों

की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ अलौकिक रही हैं और उन्होंने असंख्य युवकों को योग-मार्ग की दीक्षा दी है। यह बहुत दिनों तक यौगिक संस्कृति का जीवित केन्द्र रहा है और राष्ट्र के आध्यात्मिक वातावरण के निर्माण में बहुत बड़ा प्रभाव डाला है। अनेक व्यक्ति आध्यात्मिक जिज्ञासा लेकर प्रेरणा और दीक्षा के लिए यहाँ आते रहे हैं, अब भी आते हैं। अनेक तीर्थयात्री वर्ष भर गोरखनाथ की इस पवित्र तपोभूमि तथा उनके नाम से सम्बद्ध मन्दिर के दर्शन के लिए आते रहते हैं। काफी अच्छी संख्या में आने वाले अतिथियों के भोजन तथा अन्य सुविधाओं का प्रबन्ध प्रायः प्रतिदिन करना पड़ता है। मकर-संक्रान्ति के दिन लाखों नरनारी परम देवता के दर्शन से अपने को पवित्र करने आते हैं और उनके निमित्त कुछ खाद्य पदार्थ भी उत्सर्ग करते हैं। इसके अतिरिक्त सामान्यतः मंगलवार का दिन श्री नाथ जी के दर्शन के लिये विशेष पवित्र माना जाता है और वर्ष भर प्रति मङ्गलवार को सभी जातियों के धार्मिक प्रवृत्ति के नर-नारी मन्दिर में दर्शन की कामना से आते हैं। मठ से सम्बद्ध एक गोशाला भी है जहाँ गाय-भैंसे भली प्रकार रखी जाती हैं। मन्दिर में सांस्कृतिक पूजा का क्रम तो रात-दिन थोड़ी-थोड़ी देर के बाद बराबर चलता रहता है।

पूरी संस्था का प्रबन्ध एक योगी के हाथ में है जिसे 'महन्त' कहते हैं। मठ के अन्तर्गत महन्त का बड़ा ही आदरणीय और श्रद्धास्पद स्थान माना जाता है। वह योगी गुरु गोरखनाथ का प्रतिनिधि और इस संगठन से सम्बद्ध सभी योगियों का आध्यात्मिक नेता माना जाता है। व्यवहार की दृष्टि से वह गोरखनाथ जी का प्रधान सेवक है और गुरुओं के गुरु (गोरखनाथ) के द्वारा संस्थापित इस संस्था के सञ्चालक के रूप में उच्चतम आध्यात्मिक आदर्शों के निर्वाह के लिए उत्तरदायी है। वह निर्धारित विधि के अनुसार

नियमित रूप से निश्चित समय पर की जाने वाली नैत्यिक पूजा के लिए, वर्ष में विभिन्न ऋतुओं में आने वाले सामयिक पर्वों को विधिवत मनाने के लिए, मठ के नैतिक-अध्यात्मिक वातावरण तथा पवित्रता और शान्ति की सुरक्षा के लिए, अतिथियों की सुविधा के लिये, गोरखनाथ के नाम पर आने वाले प्रत्येक पैसे के उचित व्यय के लिए तथा तपस्वी जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्द्ध कर्तव्यों के उचित निर्वाह के लिए पूर्णतः उत्तरदायी है। उससे आशा की जाती है कि वह अपने वैयक्तिक जीवन में विविध प्रकार के दायित्वों और कर्तव्यों का भार वहन करते हुये भी त्याग, तपस्या और शान्तिमय जीवन के उच्चादर्शों का पूरी निष्ठा से पालन करेगा। उसे सभी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं, प्रलोभनों, चरित्र सम्बन्धी दुर्बलताओं और शारीरिक सुखों से परे रहना होगा।

गोरखपुर का यह गोरखनाथ मठ इस दृष्टि से विशेष भाग्य-शाली रहा है कि इसके महन्तों की परम्परा में कुछ ऐसे महायोगी हुए हैं जो अपने आध्यात्मिक ज्ञान तथा अद्वितीय योग-शक्ति के लिए दूर-दूर तक विख्यात रहे हैं। इनमें से एक बालकनाथ यहाँ सन् १७५८ से १७८६ तक २८ वर्ष पर्यन्त महन्त रहे हैं। सांसारिक वातावरण में रहते हुए भी उनके अलौकिक जीवन के सम्बन्ध में अनेक प्रेरणाप्रद गाथायें प्रचलित हैं। उनके पहले वीरनाथ, अजबनाथ और पियारनाथ इस मठ के महन्त रह चुके हैं। ये सभी महान् योगी थे। पूर्ववर्ती महन्तों का नाम उचित क्रम में निश्चित रूप से नहीं ज्ञात हैं। एक बुद्धनाथ का नाम बड़ी श्रद्धा से ? स्मरण किया जाता है। सम्भवतः वे वीरनाथ से कई पीढ़ी पूर्व यहाँ पर महन्त थे। बालकनाथ के बाद मानसनाथ को गद्दी मिली जो २५ वर्षों तक (१७८६-१८११) महन्त रहे। उनके बाद (सन् १८११–३१ तक) २० वर्षों

तक सन्तोषनाथ महन्त रहे और उसके बाद (१८३१–५५ तक) मेहरनाथ २४ वर्षों तक महन्त रहे। उसके बाद २५ वर्षों तक १८५५–८०) गोपालनाथ महन्त रहे और उन्हींके शिष्य बलभद्र-नाथ केवल ९ वर्षों तक (१८८०–८९) महन्त रहे। इनमें से अधिकांश उच्चकोटि के योगी थे। बलभद्रनाथ के शिष्य दिलवरनाथ केवल ७ वर्षों के लिए १८८९-९६) गद्दी पर रहे। उनके उत्तराधिकारी सुन्दरनाथ हुए जो कई वर्षों तक गद्दी के अधिकारी रहे यद्यपि उनके समय में बहुत दिनों तक महन्त का अधिकार और दायित्व पूर्ण प्रबुद्ध महायोगी बाबा गम्भीरनाथ को सौंप दिया गया था जो गोरखनाथ जी के यथार्थ अवतार प्रतीत होते थे। सुन्दरनाथ की मृत्यु के उपरान्त बाबा गम्भीरनाथ के प्रमुख शिष्य ब्रह्मनाथ गद्दी के लिए चुने गये जिसे उन्होंने कुछ ही वर्षों तक सुशोभित किया। सन् १९३४ में उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्य बाबा दिग्विजयनाथ उनके उत्तराधिकारी हुए और आज भी मठाध्यक्ष हैं। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त आधुनिक दृष्टिकोण के व्यक्ति होने के कारण, जिनमें निश्चय ही अद्भुत संगठन शक्ति है, उन्होंने मठ के बाह्य उपकरण में अनेक सुधार कराये हैं।

समाप्त

परिशिष्ट

शिव-शक्ति-तत्त्व

इस निस्सीम, नाना प्रकार की विचित्रताओं से परिपूर्ण, असंख्य जड़-चेतन पदार्थों से समन्वित, चिरप्रवहमान विश्व-जगत् का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से तत्त्वानुसन्धान के व्रती बनकर वैदिक ऋषियों ने ज्ञान-विकास के एक-एक स्तर में क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति, एक से अनेक की उत्पत्ति, अविभक्त जीवनी शक्ति के परिणामस्वरूप विचित्र अवयवों से सम्पन्न शरीर की उत्पत्ति और अदृश्य वासना के परिणाम से दुष्ट कर्म-प्रवाह की उत्पत्ति के सनातन नियम को दिव्य दृष्टि से देखा था। प्राण-शक्ति से युक्त 'एक' ही 'बहु' रूपों में विकसित होता है, सूक्ष्म कारण से स्थूल कार्य की उत्पत्ति होती है, यह अनेक स्थलों में प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है। मनुष्य की बुद्धि भी इस प्रकार से गठित है कि वह प्रत्येक घटना के कारण की खोज करती है, उत्पत्ति-विकास-शील किसी स्थूल पदार्थ को देखते ही उसके मूल में किसी सूक्ष्म शक्ति के अस्तित्व को खोजने की चेष्टा करती है, अनेक पदार्थों अथवा व्यापारों में किसी प्रकार का सादृश्य या सम्बन्ध अथवा क्रिया-शृंखला देखकर उनके मूल में स्थित किसी ऐक्य के अन्वेषण में रत होती है। बुद्धि का यह सार्वजनीन स्वभाव है और बुद्धि के इस स्वरूपगत स्वभाव से ही समस्त विज्ञान और दर्शनों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार के स्वभाव-वाली बुद्धि की सम्यक् परितृप्ति ही सत्य का मापदण्ड है।

हम आधुनिक युग में जिन शास्त्रों को विज्ञान (साइंस]के नाम से पुकारते हैं वे इस निखिल जगत् के विशेष-विशेष विभागों में अनेक स्थूल व्यापारों के पर्यवेक्षण और विश्लेषण के द्वारा उनसे क्रमशः सूक्ष्मतर अल्पसंख्यक कारणों के आविष्कार में लगे हैं। दर्शन-शास्त्र समस्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों को उदरस्थ करके समस्त विश्वजगत् के मूल स्वरूप एक सूक्ष्मतम अव्यक्त मूर्ति महाकारण के स्वरूपानुसन्धान में लगा हुआ है। सुविस्तृत देश और काल में असंख्य वैचित्र्य से युक्त यह विश्व-जगत् स्थूल रूप में आने के पूर्व सर्वप्रथम किस अवस्था में था इस विराट् स्वरूप के लय हो जाने पर किस अवस्था में रहेगा, किस आदि कारण से किस नियम के द्वारा इस विशाल विश्व का उद्भव हुआ है, मैं कहाँ से आया हूँ, हमारे ज्ञान और कर्म का अन्तिम परिणाम क्या होगा, ये सब प्रश्न मनुष्य की बुद्धि के अन्तस्तल से स्वाभाविक ही उठते रहते हैं तथा इन सब समस्याओं का ठीक-ठीक समाधान करने की चेष्टा को ही दार्शनिक चिन्तन कहा जाता है।

वैदिक ऋषियों ने इन समस्याओं के समाधान में तपःपरायण होकर आविष्कार किया था कि इस विश्वजगत् के अनेकों प्रकार की विचित्रताओं में अभिव्यक्त होने के पूर्व ऐसी एक अवस्था थी जब देश और काल का विभाग नहीं था; दिन रात्रि का भेद नहीं था, मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश कुछ भी नहीं थे, कोई जड़ परमाणु न था अथवा चेतन जीव भी नहीं था, जीवन भी नहीं था, मृत्यु भी नहीं थी। इस चतुर्दश भुवन का कुछ भी प्रकाशित न था, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का भी अस्तित्व नहीं था। उस अवस्था को न तो सत् ही कह सकते हैं और न असत् ही। यह अवस्था काल की दृष्टि से विश्वजगत् के आविर्भूत होने के पहिले किसी एक समय में थी, अथवा भविष्य में सब कुछ लय हो जाने पर किसी समय

रहेगी, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस अवस्था में भूत, वर्तमान, भविष्यत् नामक कोई काल-भेद नहीं है। देश और काल का विभाग, ज्ञाता और ज्ञेय का विभाग, भोक्ता और भोग्य का विभाग, कर्ता और कर्म का विभाग, अभाव और पूर्णता का विभाग, इस प्रकार के समस्त विभागों का अतिक्रम करने पर जो अवस्था रहती है वही ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के ऋषि की दिव्य दृष्टि में विश्व-ब्रम्हाण्ड की चरम कारणावस्था है।

तो क्या वह अवस्था शून्यावस्था है ? उस समय क्या केवल अभाव था ? समस्त सत्ता का बिल्कुल अभाव था ? क्या अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव है ? अथवा क्या भाव का पूर्णतः अभाव में परिणत होना सम्भव है ? वह मूल कारणावस्था निश्चय ही ऐसी कुछ थी जिसमें कोई भेद नहीं परन्तु जिससे सब प्रकार के भेद की उत्पत्ति सम्भव है, जो देश-काल के ऊपर होते हुए भी देश और काल में अनन्त भावों और अनन्त रूपों में अपने को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, जिसके स्वरूप में भोक्तृ-भोग्य, ज्ञातृ-ज्ञेय, कर्तृ-कर्म प्रभृति विभागों का पूर्णतः अभाव है। तथापि विचित्र प्रकृति से विशिष्ट असरुय भोक्तृ-भोग्य, ज्ञातृ-ज्ञेय, कर्तृ-कर्म प्रभृति विभागों को स्वयं ही बिना किसी चेष्टा के सृष्टि करने की अघट-घटन-घटीयसी शक्ति जिसके स्वरूप में अभिन्न रूप से नित्य विद्यमान रहती है।

ऋषि ने देखा 'आनीदवाहं स्वधया तदेकम्'-उस समय केवल वही 'एक' था और वही 'एक' स्वधा के साथ, स्वकीया आत्मसूता शक्ति के साथ अत्यन्त अभेद रूप में संयुक्त होकर विराजमान था। वह 'एक' जड़ नहीं, जीवन्त (अनीत्) था। सारी जड़ सत्तायें चेतन हैं, अन्यथा जड़ से अस्तित्व का प्रकाश ही नहीं हो सकता। अतएव

मूल सत्ता निश्चय ही चेतन, स्वप्रकाशस्वरूप है। किन्तु है वह अविक्षब्ध (अवातं), स्वकीया शक्ति उसके साथ रहते हुए भी उसमें विक्षोभ या चाञ्चल्य का उत्पादन नहीं करती, अनभिव्यक्त स्वभाव से अभिव्यक्त भाव में उसको प्रकट करने का कोई आयोजन नहीं करती। जीवन्त चेतन होते हुए भी उस मूल अव्यक्त स्वरूप में उसके जीवन का कोई स्पन्दन, तरङ्ग या प्रवाह नहीं रहता।

उस महाकारण के भी कारण चैतन्य स्वरूप अद्वितीय, 'एक', अनन्त वैचित्र्य से पूर्ण सृष्टि का उत्पादन करने वाली अविचिन्त्य महाशक्ति के साथ नित्य युक्त भाव से विराजित होने पर भी उस समय किसी भी पदार्थ का प्रकाश नहीं था। यहाँ तक कि उस समय आवरण और प्रकाश का भी कोई भेद न था—'तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे'—तम के द्वारा समावृत तम ही विद्यमान था। इस अवस्था को अखण्ड आवरण भी कहा जा सकता है और अखण्ड प्रकाश भी। उस अद्वितीय 'एक' को न प्रकाशस्वरूप कहने में ही कोई दोष होता है, न तो तमःस्वरूप कहने में ही। इसी प्रकार तमःप्रकाश रहित कहने में भी दोष नहीं होता क्योंकि भेद के बिना, द्वैत के बिना प्रकाश और आवरण का कोई अर्थ ही नहीं होता और न इनके बीच कोई अर्थगत भेद ही रहता है। सब प्रकार के भेद से रहित उस मूल सत्ता को अन्यान्य ऋषियों ने कभी असत्स्वरूप बतलाया है और कभी सत्स्वरूप। कभी प्रकाशस्वरूप भी कहा है और कभी तमःस्वरूप भी। कभी पूर्ण भी कहा है और कभी शून्य भी। सारांश यह कि द्वैताधीन बुद्धि की कोई कल्पना ही वहाँ नहीं टिकती।

यह जो अभिन्नशक्ति, शक्तिमान् देशकालातीत बाह्य अन्तर-रहित तमःप्रकाशवर्जित अद्वितीय 'एक' है इसी से इस व्यक्ताव्यक्त

जगत् की उत्पत्ति होती है। नासदीय सूक्त के ऋषि ने घोषणा की है कि 'तपस्या की महिमा से' उसी 'एक' ने स्रष्टा और स्रष्ट रूप में, एक और बहु रूप में, कारण और कार्य रूप में कालाधीश और कालाधीन रूप में, आत्मप्रकाश किया, उस 'एक' ने ही जन्म ग्रहण किया—'तपसस्तन्महिम्ना जायते कम्' यह तो अज का जन्म, परिणामरहित का आत्मपरिणाम, नित्य वस्तु की आत्मसृष्टि, देश-कालातीत का देश-काल में आत्मप्रकाश, अद्वितीय एक का स्वयं बहुरूप-ग्रहण कहना है—इसका कोई कारण बतलाते नहीं बनता। जो सर्व कारणों का स्वरूप कारण है, जिसके स्वभाव से सब कारणों की उत्पत्ति होती है उसके स्वभाव के आत्म-प्रकाश के सम्बन्ध में किसी कारण का होना सम्भव नही है। कारण के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही यहाँ नहीं उठ सकता. ऋषि ने इसको उस एक ही की अचिन्तनीय 'तपस्या की महिमा' बतलाया है। वह तपस्या भी उसके स्वभाव के ही अन्तर्गत है—'देवस्य स्वभाव एषः'। इस तपस्या में ज्ञान, इच्छा और आनन्द एकीभूत हो गये हैं। इसमें उनकी कोई चेष्टा नहीं, अवस्थान्तर नहीं, साधना और सिद्धि का भेद नहीं, तथा इच्छा और उसकी पूर्ति का कोई भेद नहीं है। यह तपस्या उसके साथ अभिन्न भाव से विराजित, उसी की स्वकीया शक्ति का, उसी की स्वधा का स्वाभाविक परिणाम है। इस तपस्या का स्वरूप क्या है, यह बात मानवीय बुद्धि की धारणा में नहीं आ सकती। बुद्धि यदि आत्मसमाहित हो तो उस समाधि-अवस्था में इसका आभास प्राप्त किया जा सकता है। व्युत्थित बुद्धि उस अनुभूति को चाहे जिस भाषा में प्रकट करने की चेष्टा करे, वह किसी प्रकार भी समीचीन नहीं हो सकता। व्युत्थित अवस्था की अभिज्ञता की सहायता में अपेक्षाकृत उस अनुभूति का कुछ आभास मात्र प्रकट करने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

इस अनिर्वचनीय तपस्या की अचिन्त्य महिमा से उस 'एक' में शक्ति और शक्तिमान का कुछ भेद उत्पन्न हुआ, शक्ति का विचित्र परिणाम प्रारम्भ हुआ तथा विचित्र रूप में, विचित्र नाम में परिणत स्वकीया शक्ति के सम्पर्क से उस 'एक' की ही अपने में ही नयी-नयी उपाधियाँ उत्पन्न होने लगीं। स्वकीया शक्ति के विचित्र परिणाम से वह 'एक' ही मानो नये-नये रूपों में जन्म ग्रहण करने लगा। निर्गुण, निर्विशेष, निरुपाधिक 'एक' ने सगुण, सविशेष, सोपाधिक, वैचित्र्यमय रूपों में अपने को अभिव्यक्त किया। यही हुई उसकी आत्मसृष्टि और यही हुआ उसका जन्म-ग्रहण।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि उसकी इस आत्मसृष्टि या जन्म-ग्रहण का प्रारम्भ किसी कालविशेष या देशविशेष में नहीं होता। किसी विशेष देश या काल में यदि इस सृष्टि का आरम्भ हुआ होता तो सृष्टि का पूर्ववर्ती वह निर्गुण, निर्विशेष, अभिन्न-शक्ति-शक्तिमान, अद्वितीय 'एक' भी देशकालावच्छिन्न होता। अतएव वह ससीम, विकारशील, परिणामी होता और उसका भी एक कारण खोजना पड़ता। ऐसा होने पर नासदीय सूक्त का वर्णन असमीचीन हो जाता। देश-काल की दृष्टि से, दैशिक विस्तार और कालिक परिणाम की दृष्टि से, इस सृष्टि का कोई आदि या अन्त कल्पित नहीं हो सकता। उस 'एक' का देशकालातीत निर्गुण, निर्विशेष, निरुपाधिक स्वभाव जिस प्रकार नित्य है, देश-काल में उसकी अनेक रूपों में आत्मसृष्टि भी उसी प्रकार नित्य है, देश-कालातीत, निर्विशेष निर्विकार अद्वितीय 'एक' का देश में और काल में विचित्र सविशेष परिणाम में चिरन्तन आत्मप्रकाश, आत्मक्रीडा, आत्मविनोदन ही उसकी आत्मसृष्टि या विश्वसृष्टि है। देश और काल के,—बहुत्व और परिणाम के ऊपर विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप में इसका आविर्भाव होता है तथा देश और काल में, बहुत्व और परिणाम में इसकी अभिव्यक्ति होती है।

सब प्रकार के भेद और परिणाम से रहित उस 'एक' के स्वरूप में इस देशकालव्यापी भेद-परिणाममय विश्व-रूप का अत्यन्त अभाव था, ऐसी बात नहीं है। बल्कि यह सब कुछ उसकी शक्ति में एकीभूत होकर विलीन था, भेद और परिणाम की कोई अभिव्यक्ति नहीं थी, यह सभी ढका हुआ था। किसके द्वारा ढका हुआ था ? क्या किसी अन्य शक्ति के द्वारा उसकी इस स्वकीया शक्ति का प्रकाश अवरुद्ध था ? अन्य किसी स्वकीया या परकीया शक्ति की विद्यमानता तो संभव नहीं है। किसी आवर्य और आवरक का भेद भी तो वहाँ नहीं रह सकता—'किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्।' ऋषि कहते हैं—'तुच्छेनाभिपिहितं यदासीत्' तुच्छ के द्वारा सर्वतोभावेन आवृत था अर्थात् जिसके द्वारा आवृत था वह तुच्छ था, उसे सत् या असत् कुछ भी कहते नहीं बनता। उसी को 'तमः' कहा गया 'स्वकीया शक्ति के अन्तर्भुक्त अविभागापन्न विचित्र विश्व के प्रति उस 'एक' के तुच्छ भाव—औदासीन्य' उसके प्रति ईक्षण के अभाव—के द्वारा ही यह विश्व समावृत था, यही कहा जा सकता है। उस 'एक' की अपनी शक्ति के प्रति 'ईक्षण' द्वारा ही वह आवरण दूर हुआ, विश्व की सृष्टि हुई। वह एक ही बहुत रूपों में अभिव्यक्त हो गया। उस 'एक' का आत्मस्थ योगनिद्रामग्न भाव ही निर्गुणभाव है तथा शक्ति की ओर दृष्टिपात करते हुए सृष्टि की इच्छा से विशिष्ट भाव ही सगुण भाव है—अपने को बहुरूप में उत्पन्न करने का भाव है। यही है उसकी तपस्या की महिमा के द्वारा तुच्छ आवरण का तिरस्कार करते हुए सृष्टि में 'जायमान' होना।

उसी एक की ईक्षण रूपी तपस्या से उत्पन्न स्वीया शक्ति का—स्वधा का—जो प्रथम जागरण है, सर्व प्रथम आपाततः पृथक् भाव से आत्मपरिणामोन्मुखता है, उसी का नाम 'काम' है। इसी काम रूप में शक्ति की प्रथम उपलब्धि होती है। यह काम ही शक्ति के अभिन्न,

अव्यक्त अवस्था से भेदभावापन्न व्यक्तावस्था में परिणत होने का प्रथम सोपान है। शक्ति का कामरूप परिणाम ही, यह उपाधि ग्रहण करना ही निर्गुण 'एक' की प्रथम सगुणभाव की प्राप्ति, ईश्वर-भाव का आविर्भाव है। उस 'एक' से विश्वसृष्टि-प्रक्रिया के प्रारम्भ के सम्बन्ध में नासदीय सूक्त के ऋषि इसी कारण कहते हैं—'कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत'। एक स्वरूप में अभेद भाव में विराजित मन का प्रथम परिणाम ही काम-रूप है तथा इसी काम से कालिक सृष्टि, व्यक्त जगत् का क्रमिक प्रकाश होता है। परमार्थतः शक्तिमान् 'एक' से अभिन्न उसकी शक्ति जब कामरूप धारण कर विचित्र आकार में परिणत होने लगी तभी उसमें नाना प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न हुए, सृष्टि, स्थिति और संहार का व्यापार चलने लगा।

नासदीय सूक्त के इस परम गम्भीर तत्त्व-विचार को प्रतिध्वनित करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं—'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवलः।' जब वह तमःअवस्था थी तब न तो दिन था और न रात्रि, न सत् था न असत्, केवल मात्र शिव ही विराजमान थे। नासदीय सूक्त का 'एक' श्वेताश्वतर उपनिषद् के शिव हैं। माण्डूक्य उपनिषद् इसी एक अद्वितीय 'शिव' के स्वरूप का निर्धारण करते हुए कहता है—'नान्तःप्रज्ञं न वहिर्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघन न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।' वह न तो अन्तःप्रज्ञ हैं न वहिर्प्रज्ञ, और न उभयतः प्रज्ञ हैं, वह न प्रज्ञानघन हैं और न प्रज्ञ हैं और न अप्रज्ञ ही हैं। अर्थात् ज्ञातृज्ञानज्ञेय का भेद न होने के कारण, किसी प्रकार की वृत्ति या परिणाम न होने के कारण, उनके साथ सम्बन्धित किसी द्वितीय स्वतन्त्र या अस्वतन्त्र पदार्थ के न होने के कारण, उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वे ज्ञानवान् हैं या ज्ञान-हीन हैं, चैतन्ययुक्त हैं या चैतन्यविहीन हैं, कुछ भी नहीं कहा

जा सकता। प्रज्ञा भी उन्हीं की शक्ति के परिणाम से उत्पन्न है। 'प्रज्ञाचतस्मात् प्रसृता पुराणी।' तत्त्वदर्शी लोग उन्हें—

'अदृष्टम व्यवहार्यमग्राह्यमलणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यय-सारं प्रपञ्चोपशमनं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते।'

सब ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अगोचर, वाक्य और चिन्तन के अगोचर के नामरूप के परे एकमात्र आत्मप्रत्यय के सारस्वरूप, सर्व विषयों के उपरामस्वरूप एक अद्वितीय तुरीय शिवतत्त्व मानते हैं। '*स आत्मा स विज्ञेयः।*' वही आत्मा है, वही परम विज्ञेय तत्त्व है। शिवगीता में भी शिवतत्त्व का इसी प्रकार वर्णन किया गया है—

अचिन्त्यरूपमव्यक्तमनन्तममृतं शिवम्।
आदिमध्यान्तरहितं प्रशान्तं ब्रह्मकारणम्।
एकं विभुं चिदानन्दमरूपमजमद्भुतम्॥

कैवल्योपनिषद् कहती है—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्॥
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, प्रशान्त, अमृतस्वरूप, ब्रह्म के भी कारण, आदि, मध्य और अन्त से हीन, विभु, चिदानन्द, अरूप, अद्भुत, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, एक अद्वितीय; उमासहाय, (शक्ति समन्वित) परमेश्वर शिव का ध्यान करके मुनि उस तमस् से परे

विराजमान् समस्तसाक्षी, सब कारणों के कारण परमतत्त्व को प्राप्त होते हैं।

अतएव नासदीय सूक्त का वह 'एक' ही शिव नाम से अभिहित होता है तथा शिव रूप में हमारी धारणा की सुविधा के लिए उपस्थापित है। उसी एक की स्वकीया शक्ति स्वधा ही उमा, काली प्रभृत नामों से प्रसिद्ध है। परमार्थतः उमा या काली शिव के साथ अभिन्न हैं, नित्य उन्हीं के अङ्क में लीन रहती में हैं। यह शक्ति जब शिव के स्वरूप में अभिन्नभाव से चिन्तित होती है तब शिव मन और वाणी के अगोचर हो जाते है, केवल निषेधवाचक पदसमष्टि के सिवा उनके परिचयसूचक किसी वाक्य का व्यवहार करना सम्भव नहीं होता, उनकी कोई गुण-क्रिया नहीं होती, उनके साथ सम्बन्धित कोई पदार्थ नहीं होता जिसके द्वारा उनका परिचय प्राप्त हो, जिस सम्पर्क से उसका विचार करना सम्भव हो उनकी शक्ति के परिणाम के भीतर ही उनका सब परिचय निहित है। उनकी इस शक्ति को ज्ञानमयी, इच्छामयी, आनन्दमयी, कर्ममयी सब कुछ कहा जा सकता है—सभी भाव उसमें एकीभूत होकर विद्यमान हैं। इस शक्ति के द्वारा ही उनका स्वभाव निर्मित है। यह शक्ति जब उनकी 'अचिन्त्य तपसोमहिमा' उनके वक्षस्थल को भेद कर परिणामशील रूपमें अभिव्यक्त होती है, उन शिव के ही वक्षस्थल का आश्रय करके उनके स्वरूप से आपाततः भिन्न भाव अवलम्बन करके उनकी 'आत्मभूता शक्ति' जब सृष्टि, स्थिति और प्रलय रूप नृत्य करने लगती है, तब उस 'एक' का ही द्वैतभाव में आत्मप्रकाश होता है। निष्क्रिय, निर्गुण, निर्विकार, परिणामहीन कूटस्थ शिव परिणामशीला, सविकारा, सगुणा, सक्रिया शक्ति के आश्रय और अधिष्ठान रूप में उसके चरणतल में—उसके विचित्र परिणाम और क्रिया की आड़ में नित्य स्वरूप में

विराजमान रहते हैं। इस शक्ति के नित्यनूतन नृत्य-रचना के भीतर—नित्य नूतन परिणाम और क्रिया के सम्बन्ध से उस शिव का भी नित्य नूतन सोपाधिक परिचय प्राप्त होता है। निष्क्रिय, निर्विशेष शिव तथा सक्रिय सविशेष शक्ति के योग में ही समस्त सत्ता निहित है, इस द्वैताभिव्यक्ति के भीतर उसी परम 'एक' की अनेक रूपों में आनन्द लीला होती है। शक्ति को पृथक् भाव से विचार करने पर उसके सम्बन्ध के बिना शिव गुण, कर्म और प्रकाश से हीन शिव के रूप में ही प्रतीत होते हैं। शिवका शिवत्व शक्ति के अन्दर से ही प्रकाशित होता है। शिव को शक्तिमान के रूप में ग्रहण न करने पर प्रकाश और तम दोनो एक हो जाते हैं, शिव और शव में कोई अन्तर नहीं रहता, चित् और अचित् में कोई भेद नहीं रहता, सत् और असत् में किसी भिन्नता का निरूपण नहीं हो सकता, यह बात पहिले ही बतलाई जा चुकी है। अतएव देश, काल आदि से अतीत सब प्रकार के भेद से वर्जित शिव के वक्षस्थल के ऊपर कालमयी, परिणाममयी अशेष वैचित्र्य का उत्पादन करनेवाली महाशक्ति का नृत्य ही विश्वसत्ता का स्वरूप है।

काम रूप में—सृष्टि की इच्छा के रूप में, बहुभावों में उत्पन्न होने के संकल्प रूप में शिव के अंक में लीन महाशक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति होती है। नासदीय सूक्त का अनुसरण करते हुए उपनिषद् भी कहता है—'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेत।' 'उसने कामना की, मैं बहुतों के रूप में उत्पन्न हो जाऊँ। 'इस कर्मोत्पत्ति से ही उस सर्वभावातीत स्वभाव में सोपाधिक अहंभाव की उत्पत्ति होती है। विश्व प्रसविनी महाशक्ति भी इसी कारण कामाख्या देवी के नाम से अभिहित हुई है।

उस काम से माया शक्ति के सुनियमित आनन्दनृत्य के ताल-

ताल पर असंख्य द्वैतभाव समुद्भूत होते हैं। सुख के साथ दुःख, आशा के साथ आशंका, प्रेम के साथ भय, उत्पत्ति के साथ ध्वंस, स्थिति के साथ विकार, लाभ के साथ हानि, वृहत् के साथ क्षुद्र, सुन्दर के साथ कुत्सित, चेतन के साथ जड़—इसी तरह असंख्य प्रकार के द्वैत और द्वन्द्व साथ-साथ अगल बगल में उत्पन्न होकर, स्थित होकर और विलीन होकर अपूर्व शृंखला के साथ विश्व व्यापार का सम्पादन कर रहे हैं। समस्त विश्व में प्रत्येक के साथ प्रत्येक का अद्भुत सामंजस्य है। सभी उस शिव की अंकीभूतानि सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति की आत्माभिव्यक्ति के विचित्र रूप हैं, सभी उनकी गोद में खेल रहे हैं। यही कारण है कि वह विचित्र परिमाणशाला नृत्यमयी महाशक्ति जिस प्रकार सुन्दरी हैं, उसी प्रकार भयंकरी हैं, जिस प्रकार स्नेहमयी विश्वजननी हैं उसी प्रकार मृत्युमयी विश्वग्रासिनी हैं, जिस प्रकार क्षेमा (कल्याण कारिणी) हैं, उसी प्रकार भीमा (भयंकर रूपवाली) हैं और जिस प्रकार शान्ति रूपिणी हैं, उसी प्रकार संग्राम रूपिणी हैं। उनके एक ओर के हाथ में तलवार चमकती है तो दूसरी ओर मंगल और शान्ति विराजमान है। एक हाथ में ध्वंस के प्रतीक रूप में नरमुण्ड लटक रहा है तो दूसरे में सृष्टि के प्रतीक के रूप में कमल शोभा पा रहा है। वे नियम पूर्वक असंख्य चेतनाचेतन पदार्थों का प्रसव करती हैं, स्नेह पूर्वक हृदय से चिपटा कर उनका पोषण करती हैं और फिर मुख फैलाकर उन्हें चट कर जाती हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलय सभी व्यापारों में उनका आनन्द, सदा ही उनके मुख में अट्टहास, उनके सारे अंग-प्रत्यंग आनन्दोल्लास में झूमते रहते हैं।

जगत् के सभी व्यापार तीन प्रकार के अवयवों के साथ प्रकाशित होते हैं। जैसे कर्ता, कर्म और क्रिया; ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान; भोक्ता, भोग्य और भोग; द्रष्टा, दृश्य और दर्शन; हन्ता, हत और

हनन इत्यादि। यह त्रिपुटी उस महाशक्ति का ही आत्म-प्रकाश है, उन्हीं की अंगीभूत है। वही असंख्य कर्ता, कर्म और क्रिया के रूप में; ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के रूप में; भोक्ता, भोग्य और भोग के रूप में; हन्ता, हत और हनन के रूप में अपने को अनादि और अनन्त काल में व्याप्त करके प्रकट कर रही हैं। समस्त अतीत उन्हीं के भीतर विलीन है, सारा भविष्य उन्हीं के भीतर छिपा हुआ है, सारा वर्तमान उन्हीं के अंग में प्रकट है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् विशिष्ट काल-प्रवाह के द्वारा ही मानो उनका शरीर निर्मित है। काल में जो हो गया है, हो रहा है और होगा, सभी उनके शरीर में विद्यमान है। सब कुछ उनके स्वभाव से प्रकट होकर फिर उन्हीं के स्वभाव में समा जाता है। नित्य ही वे अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था, तथा व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में जाती, आती व होती रहती हैं।

उनकी इस कालमयी मूर्ति से ही समस्त वर्णों की, सारे शब्दों की, रसों की, स्पर्शों की, गन्धों की उत्पत्ति होती है। उनका कोई विशेष वर्ण नहीं, विशेष शब्द नहीं, विशेष रस-गन्ध या स्पर्श नहीं है। इसी कारण सब वर्णों से परे काले वर्ण में उनका रूप परिकल्पित होता है। सब शब्दों से परे अनातन नित्य प्रणव ध्वनि में उनका परिचय होता है, सब रसों का उत्स मूल स्रोत स्वाभाविक विशुद्ध आनन्द ही उनका स्वरूप कहलाता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सभी उनके अव्यक्त रूप की व्यक्त मूर्तियाँ हैं।

एक ओर वे जिस प्रकार सब वर्णों के कारणरूपी अव्यक्तमूर्ति अर्थात् प्रगाढ़ कृष्णवर्णवाली हैं—'तमसा गूढ़ं तमः।' दूसरी ओर वही महाशक्ति स्वप्रकाशात्मिका होने के कारण ज्योतिर्मयी हैं, उनके कृष्ण अङ्ग से विश्वप्रकाशक ज्योति विकीर्ण होती है, उन्हीं

की ज्योति से विश्व का सब कुछ 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' ये ग्रावरणमयी हैं ग्रौर प्रकाशमयी भी हैं। वे ग्रावरण शक्ति के रूप में सच्चिदानन्दस्वरूप-रूप एक ग्रद्वितीय शिव को शिव के देश कालातीत मनवाणी के परे ग्रप्राकृत महिमा को देश ग्रौर काल में मन ग्रौर वाणी के गोचर रूप में प्राकृत विश्व में प्रकाशित करती हैं। वह शिव की ही सर्वमयी स्वकीया शक्ति हैं, उनकी प्रकाशिका ग्रन्य कोई शक्ति नहीं है, ग्रावरक भी दूसरी कोई शक्ति नहीं है। इसीलिए वे नग्ना, ग्रपने स्वरूप में तथा ग्रपने स्वभाव में लीलामयी हैं। वे ग्रपने ही ग्रव्याहत स्वभाव के ग्रनुसार ग्रनादि ग्रौर ग्रनन्त काल में ग्रावरण ग्रौर विक्षेप की प्रकाश लीला करती जा रही हैं। उनके विशेष-विशेष भाव, विशेष विशेष लीलाएँ, विशेष-विशेष देश ग्रौर काल से सीमित ग्रभिव्यक्ति के बीच जब हमारी दृष्टि ग्रौर चिन्तन ग्रवरुद्ध हो जाती है, तब उसी के द्वारा उनका समग्र रूप हमारे ज्ञान के समक्ष ग्रप्रकाशित वा ग्रावृत हो जाता है। उनकी निजी क्रिया के द्वारा, ग्रात्म प्रकाश के द्वारा, उनके ग्रपने स्वरूप का ग्रावरण होता है ग्रौर उनके स्वरूप के ग्रावरण से ही शिवस्वरूप का ग्रावरण हो जाता है। हम कभी उनकी ग्रस्थिमाला देखते हैं, कभी उनका मुण्डमाल देखते हैं, कभी उनकी तलवारें ग्रौर खड्गादि के झनझनाहट से ग्रभिभूत हो जाते हैं, कभी उनके वरद ग्रभयप्रद हस्त को ऊपर उठा हुग्रा देखकर ग्राकृष्ट होते हैं, कभी उनका सृष्टि कार्य, कभी पालन कार्य, कभी संहारकार्य हमारे चित्त को खींचकर उनके स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष-विशेष धारणायें उत्पन्न करता है। उन्ही की ग्रात्माभिव्यक्ति के स्तरविशेष में ग्रहन्ता, ममता ग्रादि विशिष्ट कर्तृत्व-भोक्तृत्वभिमान से युक्त हमलोग उत्पन्न होकर इस ग्रभिमान की दृष्टि से उनकी ही ग्रन्यान्य ग्रात्माभिव्यक्तियों को भोग्यरूप में, त्याज्य रूप में, कार्य रूप में वा

नाट्यरूप में, संस्कृतरूप में अथवा विकृत रूप में देखकर अपने अधीन करने की चेष्टा करते हैं। विश्वजननी महाशक्ति के ही अंगविशेष को हम उन्ही की सन्तान अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधीन समझते हैं। यह भी उन्हीं की लीला है। इस प्रकार उनका अखण्ड शरीर हमारी खण्डित दृष्टि में खण्डित हो जाता है तथा हमारे सामने उनके स्वरूप का आवरण हो जाता है। फिर इस आवरण को तिरोहित करके अपने समग्र स्वरूप के साथ परिचय भी वही अपनी स्वकीया प्रकाशमूर्ति के द्वारा करा देती हैं। इस आवरण करने वाली मूर्ति के विकास में वे अविद्याशक्ति के रूप में वर्णित होती हैं तथा इस प्रकाश करने वाली मूर्ति के विकास में वे ही विद्याशक्ति के रूप में पूजी जाती हैं। वह अविद्यारूपिणी भी हैं और विद्यारूपिणी भी, बन्धनकारिणी भी हैं, मुक्तिविधायिनी भी। यद्यपि अविद्याशक्ति के विस्तार के द्वारा स्वकीय सर्वमय अखण्ड स्वरूप को तथा अपने नित्य आश्रय सर्वातीत शिव के स्वरूप को आवृत कर आत्मपरिणाम से उद्भूत कर्तृ-कर्म, भोक्तृ-भोग्यादि में विभक्त असंख्य खण्डमूर्तियों को ही सत्य के रूप में उपस्थित करना इस महाशक्ति का स्वभाव सा प्रतीत होता है, तथापि सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि का अवलंबन करके देखने पर यही सिद्ध होता है कि इस अविद्या के कार्य के द्वारा भी उनका विद्या शक्ति अपने प्रभाव को विजयी बनाती है। सारे भेदों के बीच अभेद, द्वन्द्व के बीच ऐक्य, मृत्यु के अन्दर अमृत, जड़ के अन्दर चेतना, कुरूप के अन्दर सुन्दर, अनित्य के भीतर नित्य, ससीम के भीतर असीम और शोक के भीतर आनन्द को विकसित कर देना ही इस शिवप्रिया महाशक्ति का जीवन-व्रत है। अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप शिव ही तो इस अपने से अभिन्ना शक्ति के विचित्र परिणाम के द्वारा नाना रूपों में सर्वदेश

में सर्वकाल में जन्मग्रहण और आत्मास्वादन कर रहे हैं। एक शिव को अनेकों प्रकार से प्रकाश करना ही शक्ति का कार्य है। अनेक रूपों में देखने से ही शिव के स्वरूप का आवरण होता है तथा शक्ति के पूर्ण स्वभाव का परिचय नहीं हो पाता। अनेक को शिव रूप नें देखने से ही, अनेकों में से प्रत्येक को एक शिव के ही विशिष्ट प्रकाश रूप में आस्वादन करने से ही शक्ति के द्वारा शिव का प्रकाश होता है तथा शक्ति के स्वभाव के साथ परिचय भी प्राप्त होता है। समस्त विश्व-प्रक्रिया इस परिचय को प्राप्त करने के लिए ही अनेकों में एक शिव के विचित्र प्रकाश की ओर ही दौड़ रही है। विश्व की जितनी कारण-शृंखलाएँ हैं, जितने सृष्टि-स्थिति-विनाश हैं, जितने संग्राम-सन्धि-मिलन हैं, सब इसी उद्देश्य की सिद्धि की ओर नियत रूप से अग्रसर हो रहें हैं। शिव को पूर्ण रूप से विश्व में प्रकट किये बिना शक्ति का व्रत पूरा नहीं होता, सृष्टि का अन्तर्निहित उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। शिव का स्वरूप अनन्त होने के कारण ही विश्व-प्रवाह भी उनको प्रकाशित करने के उद्देश्य से अनादि और अनन्त काल में प्रवाहित हो रहा है।

विश्व-प्रपंच की नियमशृंखला की पर्यालोचना करने पर इसमें एक क्रमविकास की नीति दिखाई पड़ती है। इस जगत के सभी विभागों में आवरणी शक्ति को अभिभूत करने पर क्रमशः प्रकाशिनी शक्ति का प्रभाव बढ़ता है। जड़ के चेतन का आधिपत्य, आसुरी शक्ति के ऊपर दैवी शक्ति का प्रभुत्व, अज्ञान शक्ति के ऊपर ज्ञानशक्ति का राजत्व, हिंसा-घृणा के ऊपर प्रेमभक्ति का राजत्व सृष्टि-प्रक्रिया के अन्तर्निहित विधान के अनुसार ही स्तर-स्तर में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसी कारण महाशक्ति असुरमर्दिनी तथा देवकार्यसाधिनी, दानवदलिनी तथा भक्तप्रसादिनी प्रभृति नामों से पुकारी जाती है। उन्हीं की आत्मपरिणामरूपिणी जो शक्तियाँ विश्व के शिवस्वरूप के

प्रकाश के विपरीत मूर्ति धारण कर आविर्भूत होती है, जो शक्तियाँ विश्वव्यवस्था को भेद, विरोध, असामंजस्य तथा अधर्म की ओर प्रवाहित करना चाहती हैं, जो शक्तियाँ सत्य, ज्ञान, आनन्द, मिलन, ऐक्य की प्रतिष्ठा में बाधा देती हैं वे सारी शक्तियाँ विश्व के क्रम-विकास में आविर्भूत होकर विनाश को प्राप्त होने के लिए ही जन्म लेती हैं। उन्हें महाशक्ति की भयंकरी मूर्ति ही दिखलाई पड़ती है, उनकी तलवार की झनझनाहट ही सुनाई पड़ती है, उनका छिन्न मुण्ड ही विश्वजननी के हाथ में शोभा पाता है, उनके अस्थि, मज्जा और रक्त के ऊपर ही विश्व-मन्दिर का निर्माण होता है।

शिव के वक्षःस्थल पर विलास करने वाली विश्व जननी आनन्द-नृत्यमयी काली की श्री-मूर्ति से विश्वनीति के सभी भावव्यक्त हो जाते हैं। उन्हीं की विद्याशक्ति के शरणापन्न होकर जो साधक उनकी समग्र मूर्ति के दर्शन करने के लिए अत्यन्त आग्रहशील होता है उसके सामने वे प्रेममयी आनन्दमयी जननी के रूप में ही आत्म-प्रकाश करती हैं। वह साधक अन्तर्जगत् में और बहिर्जगत् में, स्थूल जगत् में और सूक्ष्मजगत् में सर्वत्र सब पदार्थों में तथा सब व्यापारों में उस स्नेहमयी मंगलमयी जननी की कमनीय लीला का ही दर्शन करता है। उसके कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान, ज्ञातृत्वाभिमान सभी मिट जाते हैं। सभी उस माता के खेल हैं—फिर कर्तृत्वाभिमान का क्षेत्र कहाँ? सर्वत्र ही मानो माता का ही अंग दृष्टिगोचर होता है—फिर उसके लिए भोग्य क्या है? उसका ज्ञान उस माता का ही प्रकाश बन जाता है। फिर उसके पौरुष के लिए स्थान कहाँ? भीतर बाहर सब कुछ माँ, सारा विश्व ही मातृमय! माँ के अतिरिक्त और कोई भी अस्तित्व अनुभूत नहीं होता।

इस प्रकार समस्त ज्ञातृ-ज्ञेय, ज्ञान, कर्तृ-कर्म-क्रिया, कर्तृ-

भोग्य-भोग को माता की मूर्ति के रूप में दर्शन कर स्वयं पूर्ण रूप से अहं-मम से विरहित होकर साधक जब माता के चरणों में आत्म-निवेदन करता है तब माँ के नित्य चरण-तल में स्थित शिव के साथ उसको सम्यक् रूप से ऐक्य की अनुभूति होती है, वह महाशक्ति के समस्त परिणामों के साथ आत्मीय भाव का त्याग कर उसकी आत्मा विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर उस महाशक्ति के अधिष्ठान नित्य सत्य चिदानन्दघन शिव के साथ सम्यक् अभिन्नता प्राप्त करता है। महाशक्ति की मातृभाव में उपासना कर भीतर बाहर माँ का दर्शन करते हुए सब विषयों में भोग्य भाव का त्याग करने पर ही जीव शिवत्व को प्राप्त करता है।

विश्वरूपमयीं कालीं शिववक्षविलासिनीम् ।
शिवशक्तिं शिवाभिन्नां मातरं प्रणामाम्यहम् ।।

